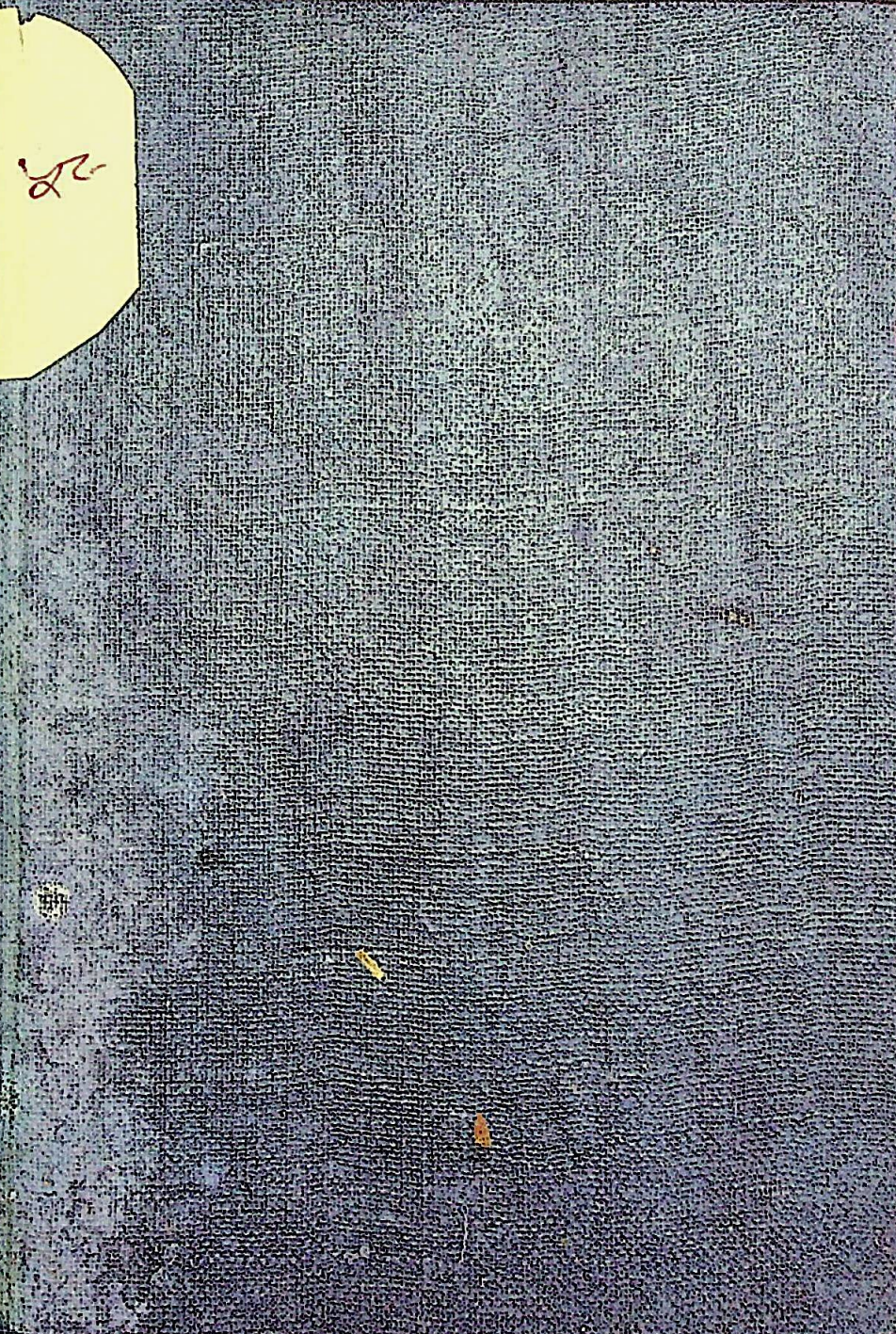
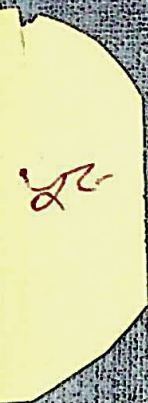
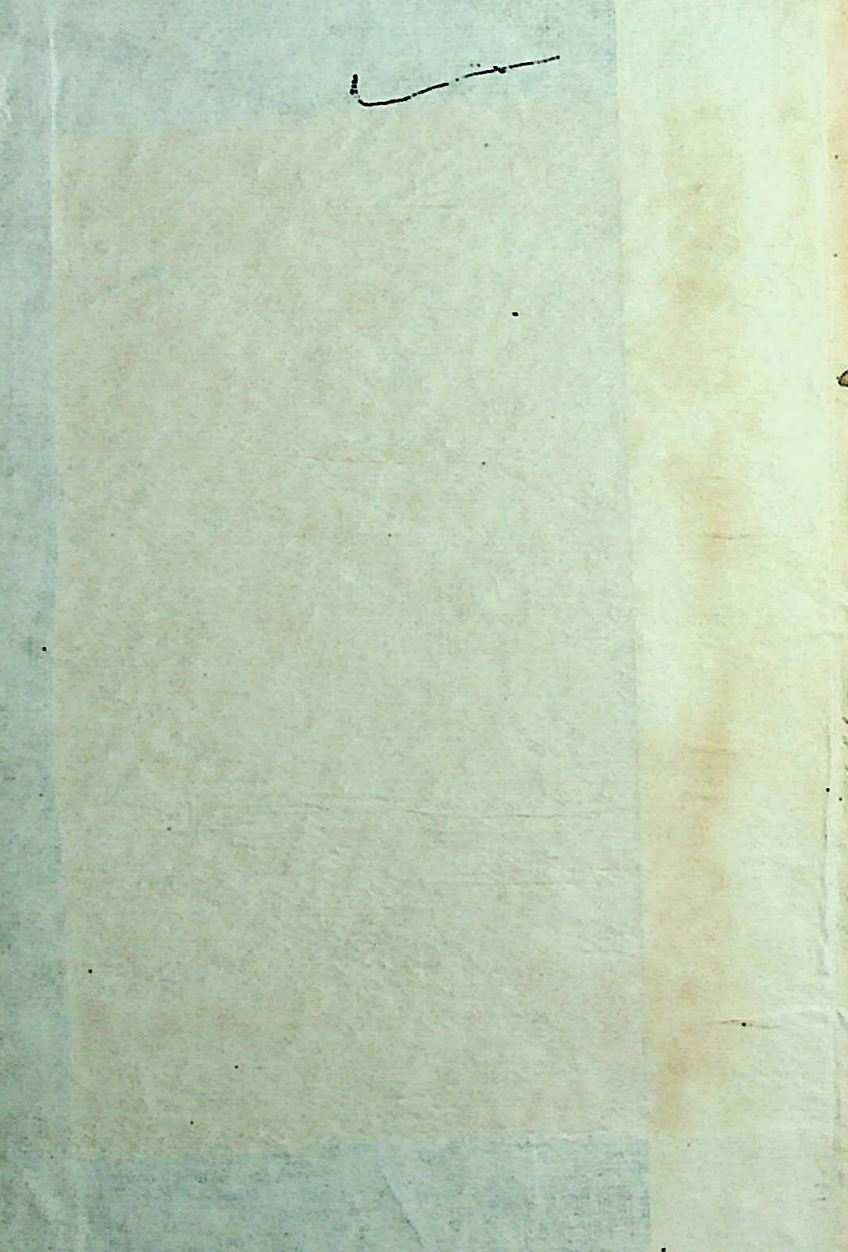






gr,



16



वैदिक ब्रह्म विचार

दि.
२०/१२



श्री दण्डी स्वामो रामतीर्थजी



॥ ॐ ॥

वैदिक ब्रह्म विचार

लेखक—

अनन्त श्रीविभूषित दण्डीस्वामी
नारायणतीर्थजी महाराजके शिष्य
श्रीदण्डीस्वामी रामतीर्थजी

प्रकाशक—

लाला मुरारिलाल सोनी,
मुहल्ला सोनियां, लुधियाना ।

पुस्तक प्राप्तिस्थान—

अमोलकराम ज्योतिषी
मन्दिर सोनियां, लुधियाना ।

मूल्य स्वाध्याय है ।

(ख)

पहिला संस्करण ११०० ग्यारह सौ वि० सं० २०११
दूसरा संस्करण १००० एकसहस्र वि० सं० २०१२
पुस्तक प्रकाशनमें सहयोग देनेवाले—

- १०० रुपये लाला मुरारिलाल मायादेवी सोनी ।
१०० रु० लाला चरणदास रेशमदेवी सोनी ।
१०० रु० लाला नन्दकिशोर फूलाँदेवी बहल ।
२५ रु० लाला इन्द्रपाल सत्यादेवी धीर ।
५० रु० लाला अमरनाथ लाजवन्तीदेवी पुरी ।
५० रु० लाला ठाकुरदास यशोदादेवी मुर्गई ।
२० रु० लाला वरकतराम पूर्णदेवी मुर्गई ।
२५ रु० पं० रामरत्न लीलादेवी रिया० स्टेशन मा० ।
२५ रु० लाला तेलूराम पार्वतीदेवी कौड़ा ।
१५ रु० डा० बनारसीदास धनदेवी सोनी ।
२५ रु० पं० ओंप्रकाश राजकुमारीदेवी कालिया ।
२५ रु० रामनारायण राजकुमारीदेवी ज्योतिषी ।
२५ रु० लाला जगन्नाथ सावित्रीदेवी भक्कु ।
१५ रु० अमोलकराम राजदेवी ज्योतिषी ।
१५ रु० पं० अमोलकरामके पुत्र प्रियव्रत सत्यव्रत ।
ये धर्मात्मा लोग, वेदोंके प्रचारमें सहायकहोनेसे धन्य,
वादके योग्य हैं । लेखक

(ग)

प्राक्कथन

प्रिय पाठकगण । भारतमें अध्यात्मज्ञानकी विचारधाराएं पहलेसेही दो रूपोंमें बहती आरहीहैं—और अबभी बहतीही जारहीहैं । इनमेंसे एक पक्षकी धारणा यहहै कि सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ब्रह्म व्यापकहै और उसका लोकविशेष ब्रह्मलोकभी विद्यमानहै । परन्तु दूसरेका कथनहैकि सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ब्रह्म व्यापकहीहै, उसका लोकविशेष ब्रह्मलोक कहना यह मिथ्या प्रलापहै । एक यह मानरहाहै कि जीवकी अपने स्वरूपमें अवस्थान करनारूपी, अर्थात् स्वस्वरूपावस्थिति विदेहकैवल्यमुक्ति होतीहै । परन्तु दूसरेकी मान्यताहैकि जीवके संनिहित यानी अन्दरमेंही अन्तर्यामी ब्रह्महै अतः उसकी समीपता प्राप्त करनीही जीवकी मोक्षावस्थाहै इससे भिन्न विदेहकैवल्य नामकी कोई वस्तुही नहींहै । एकका सिद्धान्तहैकि जीव, कर्म करनेमें स्वतंत्रहै और उसका फल भोगनेमें परतंत्रहै । परन्तु दूसरेका मतहैकि इसके समीप अन्तर्यामी ब्रह्म इसको कर्म करनेकेलिए प्रेरणाकरताहै, अतः यह कर्म करनेमेंभी स्वतंत्र नहींहै । एकने यह मानलियाहै कि जीव, अंशी सच्चिदानन्दब्रह्मका अंशहोनेसे सच्चिदानन्द स्वरूपहीहै । परन्तु—इसके विपरीत दूसरेका विचारहैकि जीव, अंशी सच्चिदानन्दब्रह्मका अंशहोनेपरभी सत्चित् रूपतो है, किंतु यह आनन्दरूप नहींहै । इसप्रकारकी भिन्न २ विचार

धारा है । क्योंकि सन्देहके हेतु ऐसे मंत्र तथा श्रुतियां बनरही हैं ।
 जैसाकि मुण्डक उपनिषद् मुण्डक ३ का यह पहला मंत्र है—
 द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
 तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

यह मंत्र श्वेताश्वतर उपनिषदके चौथे अध्यायमें भी है । इस मंत्रका किसी २ विद्वान्ने ऐसा अर्थ किया है कि एक साथ रहनेवाले तथा परस्पर सख्यभावरखनेवाले दो पक्षी (जीवात्मा और उपास्यपरमात्मा) एकही शरीररूपी वृक्षका आश्रय लेकर रहते हैं, उन दोनोंमें एक उस वृक्षके कर्मरूप फलोंका स्वाद लेकर उपभोग करता है और दूसरा न खाता हुआ केवल देखता है । इस मंत्रके द्वारा यह सन्देह होता है कि यदि शरीर भेदसे जीवभेदके समान, उपास्य ईश्वर भी प्रत्येक शरीरमें निवास करता है तब तो जितने शरीररूपी वृक्ष हैं उतनेही जीवरूपी पक्षी तो हैं ही किंतु उपास्य ईश्वर भी अनेकोंही मानने पड़ेंगे । परन्तु ऐसा माननेके लिये कोई तैयार नहीं है । संशयका दूसरा कारण—“तत्त्वमसि” यह वाक्य है । यह वाक्य, छान्दोग्य उपनिषदके छठे अध्यायमें नौ बार आ चुका है । इसमें तत् त्वं असि ये तीन पद हैं, इनमेंसे, वेदांतकी प्रायः सभी प्रक्रियाओंके अनुसार, तत्पदका वाच्यार्थ ईश्वर है और तत्पदका लक्ष्यार्थ ब्रह्म माना गया है । परन्तु तत्पदके वाच्यार्थ ईश्वरका व्यापकरूप समझमें नहीं आ रहा है । अन्यान्य कई संन्यासियोंने-

भी मेरेसे कहा है कि तत्पदका लक्ष्यार्थ ब्रह्म तो हमारे अनुभवमें आरहा है, परन्तु तत्पदका वाच्यार्थ ईश्वर हमारी समझ में नहीं आरहा है। इसके उत्तरमें मैं उन्हें इतनाही कह सका जितना कि वे पहलेसेही वाच्यार्थको जान रहे थे, उससे अधिक नहीं कह सका। क्योंकि इस विषयमें मैं स्वयंही संशय ग्रस्त था। परन्तु दीर्घकालिकी विचारके अनन्तर मैंने अब इस प्रकारकी अन्य शंकाओंका भी समाधान कर लिया है।

जिससे कि वेद शास्त्रोंके विपरीत अपना एक नयाही मत चलाना वह कलहका कारण हो जाता है, परन्तु वेद शास्त्रोंके अ-
 विरुद्ध अपने विचारोंको प्रकट करना किसी अनर्थका कारण नहीं है। ऐसेतो ऐसे विषयोंपर शंका समाधानके रूपमें पहलेसे अन्यभी बहुधा ग्रंथ बनेहुए हैं, तोभी इन विषयोंका संग्रहरूप कोई ग्रंथ मेरी दृष्टिगोचर नहीं हुआ है। अतः मैं इन विषयोंको लेखद्वारा “वैदिक ब्रह्म विचार” नामक पुस्तकमें प्रकट कर रहा हूँ। जिससे कि मंत्रात्मक वेद तथा मंत्र ब्राह्मणात्मक ईशावास्य आदि बृहदारण्यक पर्यन्त ये दश उपनिषदही सांप्रदायिक न होनेके कारण, सबकेलिये ही समान्य हैं, अतः इनके आधारपरही ब्रह्मका विचार किया जाएगा। और इस पुस्तकमें आएहुए विषयोंके समर्थक अन्यान्य उपनिषदों तथा मनुस्मृति आदि अन्य ग्रन्थोंके भी कुछ प्रमाणोंको ग्रहण किया जावेगा। इसमें, यथा संभव हिंदीभाषामें, संस्कृतभाषाके सुखबोधार्थ

(च)

विभक्त्यन्तपद और क्रियाका पूर्णरूप लिखा जावेगा । विभक्ति-
अंतपदका रूप, सूर्याय-सूर्यकेलिए, प्राप्यः-प्राप्तकरनेकेयोग्यहै,
ऐसा होगा । क्रियाका रूप-स्मरामि-स्मरणकरताहूँ, गच्छति-
जाताहै, पठति-पढ़ताहै, भवति-होताहै या होजाताहै, उच्यते-
कहाजाताहै, क्रियते-क्रियाजाताहै, ऐसा होगा । इस पुस्तकमें,
१-ब्रह्मका स्वरूप तथा उसका निर्गुणरूप २-सगुण ब्रह्म ३-
उपास्य ब्रह्म ४-प्राप्य ब्रह्म ५-प्राज्ञात्मा ईश्वर अन्तर्यामी
६-आदित्यात्मा ब्रह्म ईश्वर अन्तर्यामी ७-अंशांशी ब्रह्म ८-
शेय ब्रह्म-इसमें, तत्त्वमसि आदि वाक्योंका अर्थ विस्तार—पूर्वक
स्पष्ट शब्दोंमें दर्शायागयाहै । इसप्रकार ये आठ प्रकरण होवेंगे ।
जिन्होंने अध्ययनसे उपासक या भक्तजन, उपास्य ब्रह्मकी उपा-
सनाद्वारा धर्म अर्थ काम और निष्काम भक्तिसे अन्तःकरणकी
शुद्धिद्वारा ज्ञान प्राप्त करसकेंगे, और जिज्ञासुलोग, शेयब्रह्मके-
ज्ञान द्वारा मोक्ष लाभकरेंगे ।

भवदीय—दण्डी संन्यासी रामतीर्थ
मन्दिर सोनियां (लुधियाना) शीतकालमें,
रामभवन, भूपतवाला हरिद्वार (उष्णकालमें)

(छ)

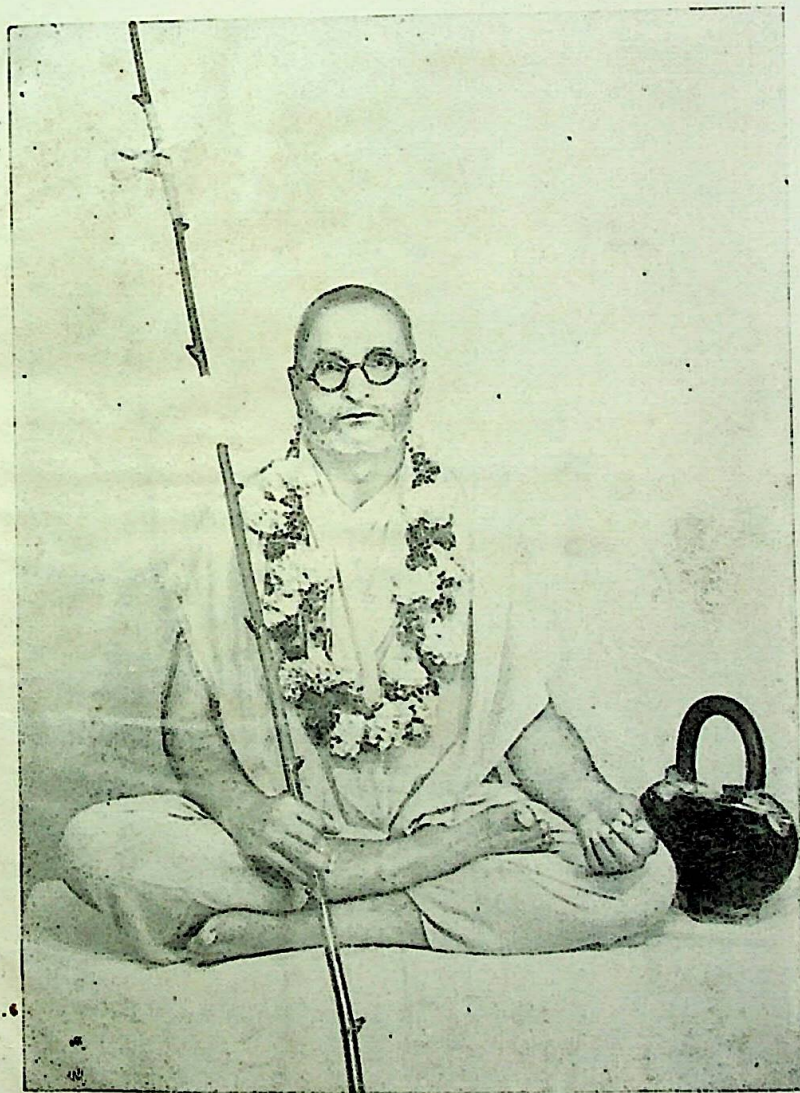
अशुद्ध और शुद्ध पाठ

अशुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध
दुखगाह्यहै ।	४	१५	दुर-वगाह्यहै ।
प्रजाति	१६	१७	प्रजापति
ससृजत	२०	५	मसृजत
निशेष	३०	५	विशेष
स्वमेवात्मानं	१३४	७	स्वमेवात्मानं

(ज)

प्रकरणसूची—

सं०	प्रकरण	पृष्ठांक
१.	ब्रह्मका स्वरूप तथा उसका निगुणरूप	१
२.	सगुण ब्रह्म	१७
३.	उपास्य ब्रह्म	४८
४.	प्राप्य ब्रह्म	७०
५.	प्राज्ञात्मा ईश्वर अन्तर्यामी	७६
६.	आदित्यात्मा ब्रह्म ईश्वर अन्तर्यामी	८६
७.	अंशांशी ब्रह्म	६२
८.	ज्ञेय ब्रह्म	१०४



श्री: १०८ दण्डी स्वामी रामतीर्थजी





वैदिक ब्रह्म विचार

ओं नमः सच्चित्सुखाय ब्रह्मणे सूर्याय ।

श्री गुरुभ्यो देवेभ्यो नमो नमः ॥

ॐ यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च
प्रहिणोति तस्मै । तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षु-
र्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ जो ईश्वर निश्चयही सबसे पहले
ब्रह्मानामक ऋषिको उत्पन्नकरताहै, और जो निश्चयही उस ब्रह्मा-
को वेदोंका ज्ञानप्रदानकरताहै, उस परमात्मज्ञान विषयक बुद्धि-
को प्रकटकरनेवाले देव ईश्वरको मैं मोक्षकी इच्छावालासाधक
शरणरूपमें ग्रहणकरताहूँ ।

१-ब्रह्मका स्वरूप तथा उसका निर्गुणरूप
ब्रह्मकास्वरूप सत्यज्ञानानन्दहै, और वह महाप्रलय-
की मध्य अवस्थामें अनन्तहोनेसे चतुष्पाद्विशुद्ध
निरपेक्षनिर्गुणब्रह्महै ।

तैत्तरीय उपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्लीके प्रथम अनुवाकमें श्रुति—

ॐ ब्रह्मविदानोति परम् । व्याकरणकेद्वारा ब्रह्म नाम व्यापक या बड़ेकाहै । ब्रह्मको जाननेवाला परको प्राप्तहोताहै, अर्थात् व्यापकको जाननेवाला व्यापक या बड़ा होजाताहै । यह श्रुतिका अर्थहै । अब यह जिज्ञासा या जाननेकी इच्छा हुई कि ब्रह्म तो किसी वस्तुका नामहै । जिस वस्तुका ब्रह्म यह नामहै उसका स्वरूप क्याहै । क्योंकि व्यवहारमें, नाम और नामीका भेद देखनेमें आरहाहै । प्रत्येक वस्तुका नाम भिन्नहै और नामी या रूप अलगहै । उदाहरणकेलिये जलको ही लेलीजिए । जल यह नाम वाणीमेंहै और इसका नामी रूप आकार या अर्थ बाहर-है—जोकि पान किया जाताहै । इसीप्रकार ब्रह्म इस नामकाभा नामी या रूप होना चाहिए । इसप्रश्नकाउत्तर अगले मन्त्रसे दिया-गयाहै । मंत्रहै—

“सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म” सत्य नाम उस वस्तुकाहै जो वस्तु भूत, भविष्यत् और वर्तमान, इन तीनोंहां कालोंमें बनीरहे, वास्तवमें वही सत्यहै । ज्ञान नाम चित् या प्रकाश काहै, अनन्त नाम अन्तसेरहितकाहै, और ब्रह्म नाम व्यापक-काहै । मंत्रमें सत्य और ज्ञान पदसे ब्रह्मका स्वरूप कहागयाहै, अनन्त पद हेतु वाचक नामहै या विशेषणहै । इस समस्त वाक्य का यह अर्थहुआ कि सत्य ज्ञानरूपी जो वस्तुहै वह अनन्तहोने-

से ब्रह्म नाम व्यापक है । प्रश्न-अन्त किसे कहते हैं । उत्तर-अन्त नाम, भेद परिच्छेद खण्ड नाश अल्प सीमा या छोटेका है । किसी-वस्तुके अल्प होनेमें, स्वगतभेद, सजातीयभेद और विजातीयभेद ये तीन प्रकारके भेदही कारण होते हैं ।

१—स्वगतभेद—अपने अवयवों या अंगोंद्वारा जो अपनेमें भेद है वह स्वगतभेद कहलाता है । जैसा कि मनुष्यका अपने कर चरण या हाथ पैर आदि अंगोंद्वारा अपनेमें जो भेद है, वह स्वगतभेद है । जब हम कहेंगे कि यह हाथ है यह पैर है इस प्रकार प्रत्येक या हर एक अङ्गका अलग २ नाम लेंगे तब उसका मनुष्य नाम न रहा वह अपने अंगोंमें बट जानेसे अन्तवाला या अल्प होगया, क्योंकि मनुष्य नाम तो अंगोंके समूहका है किन्तु हाथ पैर आदि एक एक अंगकानाम है । यह स्वगत भेद अवयव या हिस्सेवाली वृक्ष आदि सभी वस्तुओंमें रहता है ।

२—सजातीयभेद—समान जातिवालेसे जो भेद है वह सजातीयभेद है । जैसा कि मनुष्यका मनुष्यसे भेद है । क्योंकि प्रत्येक मनुष्यका रूप भिन्न २ है, इसी रूप भेदके कारण मनुष्य प्रत्येक मनुष्यमें व्यापक न रहनेसे अन्तवाला या छोटा होगया । यह सजातीयभेद है । यह सजातीयभेद, समानजातिवाले वृक्ष आदि प्रत्येक व्यक्तिमें व्याप्त है और होगा ।

३—विजातीयभेद—भिन्न जातिसे जो भेद है । वह विजातीयभेद है । जैसा कि मनुष्यका अपनेसे भिन्न जातिवाले पशु

आदि सभी जातियोंसे भेद है। क्योंकि मनुष्यभी जातिभेदके कारण, सभी जातियोंमें व्यापक न होनेसे अन्तवाला या सीमित होगया। यह विजातीयभेद है। यह भेदभी भिन्न जाति-वाले मनुष्य आदि सभी जातियोंमें रहता है। परन्तु सत्य ज्ञान या सत् चित् वस्तु “एषो ऽकलो ऽमृतो भवति” यह अवयव रहित है और अविनाशी है—इस प्रश्नउप० की छोटे प्रश्नकी श्रुतिसे निरवयव है। अतः वह अवयव या अङ्गों वाला न होनेसे उसमें स्वगत भेद न होनेसे इसकेद्वारा अन्तवाला नहीं-है। उसकी समानतामें दूसरा सत्य ज्ञान न होनेपर उसमें सजातीयभेद न होनेसे वह सजातीयभेदकेकारण अन्तवाला या खण्डित नहीं है। सत्य ज्ञानसे भिन्न, माया या इच्छाशक्ति नहीं है, अतः वह विजातीयभेदकेकारण अन्तवाला नहीं है। इस-प्रकार सत्य ज्ञानरूपी वस्तु, स्वगत सजातीय और विजातीय-भेदरहित होनेसे अनन्त है इसीसे वह ब्रह्म या व्यापक है।

जिससेकि वेदोंका अभिप्राय अतिगंभीर और दुखगाह्य है कि अधिकारीही ब्रह्मविद्याको प्राप्त करे। इसीलिए श्रुतियोंमें ब्रह्मका कहींपर सत् रूप और कहींपर सत्य ज्ञान रूप तथा कहींपर केवल आनन्द रूप तो दिया गया है, परन्तु श्रुतियोंमें ब्रह्मका, सत्य ज्ञान आनन्दरूप या सच्चिदानन्दरूप, ऐसा सामूहिक रूप कहींपरभी नहीं देखा गया है। (ऐसेही नानाप्रकारसे सृष्टिकी उत्पत्तिके कथनकोभी समझलेना चाहिये) जिससेकि ब्रह्मका,

केवल सत्य और ज्ञानरूपही स्वरूप नहीं है, किंतु उसका आनन्द रूपभी है, इसलिए इनके साथ आनन्दरूपको लगादेनाही उचित है ।

छान्दोग्य उप० अध्याय ७ खंड १३ श्रुति—“यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्”—भूमा नाम ब्रह्मका है वही सुख स्वरूप है, अल्प नाम भेदका है इसमें सुख नहीं है । यह श्रुतिका अर्थ है । उक्त श्रुतिमें, व्यापककोही सुख या आनन्दरूप माना गया है । तब फिर सत्य ज्ञानके साथ आनन्दको लगादेनेसे अब यह सिद्ध हुआ कि सत्यं ज्ञानम् आनन्दं या सत् चित् आनन्दं या अस्ति भाति प्रिय रूपही स्वगत आदि तीनों भेदोंकी सीमासे रहित होनेसे ब्रह्म है या व्यापक है ।

पञ्चदशीके पंचकोश विवेक प्रकरणमें श्लोक ३५—

न व्यापित्वाद्देशतो ऽन्तो नित्यत्वान्नापि कालतः ।

न वस्तुतोपि सार्वार्थ्यादानन्त्यं ब्रह्मणि त्रिधा ॥

इस श्लोकके अनुसार, या यूँ कहो कि सच्चिदानन्दही व्यापक होनेसे देशकृत भेद या परिच्छेदसे रहित है, नित्य होनेसे कालकी सीमासे रहित है, और सर्वात्मा या एक होनेसे अन्य वस्तु द्वारा होनेवाले अन्त या भेदसे रहित है, ऐसी अनन्तता ब्रह्ममें तीन प्रकारकी है ।

अब यह जिज्ञासा हुई कि सत्यज्ञानानन्दका ऐसा अनन्त ब्रह्मरूप किस समयमें है । इस प्रश्नका उत्तर आगेकी श्रुति दे-रही है—

छांदोग्य० अ० ६ खंड २ में श्रुति—“ सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्”—हे प्रिय, यह कारण कार्यात्मक संसार, अपनी उत्पत्तिसे पूर्व एकही अद्वितीय सत् था । इस श्रुतिमें सत् नाम सच्चिदानन्दकाही है । क्योंकि पहलेकहीगई रीतिसे उसका पूर्णरूप, सत्यज्ञानानन्दही निश्चित हुआ है । “सदेव” इस श्रुतिमें, एक एव और अद्वितीय ये तीनोंही पद, स्वगत आदि तीनों भेदोंके निषेधार्थ या हटानेकेलिए दिए गए हैं । इससे सिद्ध हुआ कि यह जगत्, अपनी उत्पत्तिसे पहले स्वगत आदि तीनों भेदों या अन्तोंसे रहित जो सच्चिदानन्द, उससे पृथक् या भिन्न नहीं था, अतः वह सत्यज्ञानानन्द, अनन्त अखण्ड परब्रह्म या पूर्णब्रह्म था ।

ऐतरेय उप० खंड १ में श्रुति—“ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत”—यह कारण कार्यात्मक प्रपंच, अपनी उत्पत्तिसे पहले एकही आत्मा या व्यापक था, अन्य कुछभी न था । इस श्रुतिमेंभी आत्मा नाम सच्चिदानन्दकाही है । एक और एव पद, स्वगत आदि तीनों भेदोंकी व्यावृत्ति या दूरकरनेकेलिये हैं । तात्पर्य यह है कि यह

जगत्, अपनो उत्पत्तिसे प्रथम, स्वगत आदि तीनसीमाओंसे रहित सच्चिदानन्दसे भिन्न नहीं था । इसप्रकार सत्यज्ञानानन्दही, सृष्टिसे पहले स्वगत आदि तीनों अन्तोंसे रहितहोनेसे परब्रह्म या पूर्णब्रह्म था । सच्चिदानन्दकी ऐसी अवस्थाकोही अतिशुद्ध मायातीत या मायारहित कहागयाहै । श्री शङ्कराचार्यजी, तथा उनके अनुगामी सभी विद्वानोंने उपरोक्त “सदेव”—इस श्रुतिका और “आत्मा वा”—इस श्रुतिका यही अर्थ कियाहै कि यह कारण कार्यात्मक जगत्, सृष्टिकालसे पहले सत् या आत्मरूप था, आत्मासे भिन्न न था । इसलिए आत्मा या सच्चिदानन्द-रूपही, स्वगत आदि तीनों भेदोंसे रहितहोनेसे अनन्त या अखण्ड-ब्रह्म था ।

श्रीविद्यारण्यजी कृत पंचदशीके पंचभूतविवेकप्रकरणमें “सदेव”—इस श्रुतिका श्लोक २१ “तथा सद्वस्तुनः”—इससे लेकर श्लोक २५ विजातीयं० यहां तक ऊपरमें कहागयाही अर्थ किया-है । इनके आगेके श्लोकोंमेंभी इसी अर्थको बड़ी युक्ति पूर्वक सिद्ध कियाहै कि उस समय मायाशक्ति ब्रह्मसे पृथक् नहींहै, इसीसे वह स्वगत आदि द्वैतसे रहितहै । इसलिये अनन्त या अखण्ड सच्चिदानन्दरूपही, सत्त्व आदि तीनगुणोंसे रहित-होनेसे निर्गुणब्रह्महै, आकाररहितहोनेसे निराकार, विकार-हीनहै इससे निर्विकार, कल्पनाशून्यहोनेसे निर्विकल्प, माया आदि उपाधिसे रहितहोनेसे निरुपाधिकब्रह्म इत्यादि नाम वालाहै ।

इसप्रकार सत्यज्ञानानन्द या सच्चिदानन्दके अनन्त रूपकोही मंत्र और मंत्रब्राह्मणात्मक कठ और प्रश्न आदि उपनिषदोंमें परब्रह्म या निरपेक्ष निर्गुणब्रह्म या पूर्णब्रह्म अर्थात् सबसे बड़ा निर्गुण-रूप माना गया है।

निरपेक्ष ब्रह्म या बड़ी वस्तु वही होती है, जो सबसे बड़ी है। सापेक्ष ब्रह्म या बड़ी वस्तु वही होती है, जो किसीकी अपेक्षा (बजाय) बड़ी हो और किसीकी अपेक्षा छोटी है। जैसा कि पृथ्वी अपने घट पट आदि रूप कार्यकी अपेक्षा ब्रह्म है या बड़ी है, और अपने कारण रूपी जलकी अपेक्षासे अल्प है। इसप्रकार पृथ्वी, जल तक अन्त या सीमावाली होगई। यह अब सापेक्ष ब्रह्म होगई। अनन्त या निरपेक्ष ब्रह्म या बड़ी नहीं रही। इसीप्रकार जलभी पृथ्वीसे तो ब्रह्म है, कार्यकी अपेक्षा कारण बड़ा ही है, परन्तु तेजसे अन्तवाला है या अल्प है। इससे जलभी निरपेक्ष या अनन्त ब्रह्म नहीं है। ऐसेही तेजभी जलसे तो ब्रह्म है, परन्तु वायुसे अन्तवाला है, इसीसे वह निरपेक्ष ब्रह्म नहीं है। यूं ही वायुभी तेजसे ब्रह्म है, परन्तु यहभी आकाशकी अपेक्षा अल्प है, ऐसेही आकाशभी ज्ञानेन्द्रियोंकी अपेक्षा सापेक्ष ब्रह्म है। क्योंकि श्रोत्र आदि पाँचों ज्ञानेन्द्रियां, आकाश आदि पाँच-
 तत्वोंकी अपेक्षा सूक्ष्म और इनकी प्रकाशक हैं या इनको जानती-
 हैं। ऐसेही ज्ञानेन्द्रियांभी सापेक्ष ब्रह्म हैं। क्योंकि इनकी अपेक्षा
 अन्तमन्त्र और इनका प्रकाशक होनेसे ब्रह्म है। आगे मनभी

सापेक्ष ब्रह्म है। क्योंकि इसके गुण दोष या अच्छेपन और बुरेपनको जाननेवाली बुद्धि इससेभी ब्रह्म है। बुद्धिभी सापेक्ष ब्रह्म है। क्योंकि बुद्धिसे परे महत्तत्त्व या हिरण्यगर्भरूपा, सर्वज्ञ आदि गुणोंवाली बुद्धि ब्रह्म है। बुद्धि और महत्तत्त्वसे शुद्धसत्त्व-गुणप्रधानमाया और मलिनसत्त्वगुणप्रधानअविद्या ब्रह्म है। यहां तक संपूर्ण इन्द्रियों एवं समग्र मनों तथा अखिल बुद्धियों, और समस्त कारणशरीरोंका ग्रहणकरना चाहिए। क्योंकि ये इन्द्रियां आदि सभी वस्तुएं असंख्य हैं। कारणशरीरभी अपने संपूर्ण कार्यकी अपेक्षा तो कारणहोनेसे ब्रह्म है, परन्तु वह अनन्त सच्चिदानन्द रूपकी अपेक्षा स्वगत आदि भेदके हेतु अन्तवाला-होजानेसे आनन्दमयभी सापेक्ष ब्रह्म हो है। इसलिए सच्चिदानन्दका अनन्त रूपही, निरपेक्ष निर्गुणब्रह्म या पूर्णब्रह्म है। यही बात गीता अध्याय ३ श्लोक ४२ में कही गई है।

इन्द्रियाणि पराण्याह—रिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥

(आकाश आदि स्थूलभूतोंसे) परे इन्द्रियां कही जाती हैं, इन्द्रियों-से परे मन एवं मनसे परे बुद्धि और बुद्धिसे परे आत्मा है।

कठ उप० छठी बल्ली मंत्र ८-६ ।

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।

सत्त्वादधि महानात्मा महतो ऽव्यक्तमुत्तमम् ॥८॥

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापको ऽलिंग एव च ।

यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥६॥

आकाश आदि स्थूलभूतोंसे परे, इन्द्रियाँ हैं) इन्द्रियोंसे परे मन, मनसे उत्तम बुद्धि है तथा बुद्धिसे श्रेष्ठ महत्त्व है, महत्त्वसे उत्तम अव्यक्त है ॥८॥ अव्यक्तसे परे पुरुष है, वह व्यापक है और चिन्हसे रहित है, जिसे जानकर जीव अमर हो जाता है ॥९॥ इससे सत्यज्ञानानन्दका अनन्तरूप ही निरपेक्ष निर्गुण ब्रह्म है ।

परन्तु उक्त रीतिसे सच्चिदानन्दका ऐसा अनन्त रूप, महाप्रलय-की मध्य अवस्थामें ही सिद्ध होता है, उसकी आदि और अन्तिम अवस्थामें नहीं । क्योंकि महाप्रलयकी आदि अवस्थामें ब्रह्मकी कारण-अवस्था समाप्त हो रही है और उसकी अन्तिम अवस्थामें ब्रह्मकी कारण-अवस्थाका आरम्भ हो जाता है । अतः उसकी मध्य अवस्था ही अतिशान्त निर्विकल्प अवस्था है । उसीमें सच्चिदानन्दका अनन्तरूप सिद्ध होता है । अतः वह निरपेक्ष निर्गुण ब्रह्म है ।

ऐसे तो सृष्टिकालमें होनेवाली सुषुप्तिकी मध्य तुरीय अवस्थामें सच्चिदानन्दका इच्छासे रहित होनेसे शुद्ध अकर्ता और अभोक्ता रूप है, तथा माण्डूक्य उप० की “नान्तःप्रज्ञं”—इत्यादि श्रुतिसे इसका आत्मा यह नाम है, एवं “अयमात्मा ब्रह्म”—इस श्रुतिसे यह ब्रह्म है ।

ब्रह्मसूत्र अध्याय ३ पाद २ सूत्र ७ “तदभावो

नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मानि च” । शांकर भाष्य—सत्प्राज्ञयोरच
 प्रसिद्धमेव ब्रह्मत्वम् । एवमेतासु श्रुतिषु त्रीण्येव सुषुप्ति स्था-
 नानि संकीर्तितानि नाड्यः पुरीतद्ब्रह्म चेति । तत्रापि द्वार मात्रं,
 नाड्यः पुरीतच्च, ब्रह्मैवत्वेकं सुषुप्तिस्थानम् अपि च नाड्यः
 पुरीतद्वा जीवस्योपाध्याधार एव भवति तत्रास्य करणानि वर्तन्त
 इति । न ह्युपाधि संबन्धमन्तरेण स्वत एव जीवस्याधारः
 कश्चित्संभवति, ब्रह्माव्यतिरेकेण स्वमहिम—प्रतिष्ठितत्वात् ।
 ब्रह्माधारत्वमप्यस्य सुषुप्तेः नैवाधाराधेय भेदाभिप्रायेणोच्यते,
 कथं तर्हि तादात्म्याभिप्रायेण । यत आह—“सता सोम्य तदा
 संपन्नो भवति स्वमपीतोभवति” (छा० ६।८।१) इति । स्वशब्दे-
 नात्माभिलप्यते, स्वरूपमापन्नः सुप्तो भवतीत्यर्थः । अर्थ—सत् नामो
 परमात्माको और प्राज्ञको ब्रह्मता प्रसिद्धीहै । इसप्रकार इन
 श्रुतियोंमें तीनोंही सुषुप्तिस्थान कहेगएहैं नाड़ियां पुरीतत और
 ब्रह्म । उनमेंभी नाड़ियां और पुरीतत् द्वार मात्रहै, किंतु ब्रह्मही
 एक सुषुप्तिस्थानहै । दूसरी बात यहहै कि नाड़ियां और पुरीतत्
 जीवकी उपाधिकाही आधारहै, क्योंकि वहां जावके मन आदि
 करण विद्यमानहैं । उपाधिके संबन्ध बिना स्वाभाविकही जीवका
 कोई आश्रय संभव नहींहै, ब्रह्मसे अभिन्न अपनी मांहमामें स्थित
 होनेसे, अर्थात् ब्रह्मरूपहोनेसे । सुषुप्तिमें जीवका ब्रह्मको आधार-

पनाभी आश्रय और आश्रय करनेवाला ऐसे भेदके अभिप्रायसे नहीं है (प्रश्न) तो कैसे है (उत्तर) अभिन्न रूपके अभिप्रायसे है । क्योंकि ऐसा कहा है कि हे सोम्य, सुषुप्ति अवस्थामें सत् रूपसे स्थित होता है—अपनेस्वरूपको प्राप्त होता है । स्वशब्दसे अपना आप कहा है, तात्पर्य यह है कि स्वस्वरूपको प्राप्त हुआ सुप्त कहलाता है । यह भाष्यका अर्थ है ।

पंचदशीके योगानन्द प्रकरणमें श्लोक—

आत्माभिमुख धीवृत्तौ स्वानन्दः प्रतिबिम्बति ।

अनुभूयैनमत्रापि त्रिपुट्या श्रान्तिमाप्नुयात् ॥४४॥

(सुषुप्तिकी आदि अवस्थामें) आत्माके सम्मुखहुई बुद्धि-वृत्तिमें आत्माका प्रतिबिम्बपड़ता है, इस अवस्थामें जीव विषयानन्दको अनुभवकरके अनुभविता अनुभव और अनुभाव्यरूप त्रिपुटीसे श्रमको प्राप्त होजाता है । (यही प्राज्ञनामी जीवकी अवस्था है) ॥४४॥

तच्छ्रमस्यापनुत्यर्थं जीवो धावेत्परात्मनि ।

तेनैक्यं प्राप्य तत्रत्यो ब्रह्मानन्दः स्वयं भवेत् ॥४५॥

प्राज्ञनामी जीव, उस त्रिपुटीरूपी श्रमकी निवृत्तिके लिए परमात्माकी ओर दौड़ता है उससे एकताको प्राप्त करके स्वयं ब्रह्मानन्द होजाता है । यह श्लोक छान्दोग्य० की “सता सोम्य तदा संपन्नो भवति” इस श्रुतिके आधारपर बना है) ॥४५॥

पितापि सुप्तावपितेत्यादौ जीवत्ववारणात् ।
सुप्तौ ब्रह्मैव नो जीवः संसारित्वासमीक्षणात् ॥५६॥

(बृ० अ० ४ ब्राह्मण ३ श्रुति २२ “अत्र पिता अपिता भवति”
सुषुप्तिअवस्थामें पिताभी पिता नहीं रहता—इस श्रुति—
के अनुसार) आत्मा, प्राज्ञ नाम जीवपनेके निवृत्तहोजानेपर
सुषुप्तिमें ब्रह्महीहै (किंतु) जीव नहींहै, क्योंकि यहां आत्मामें
संसारीपना या जीवपना नहीं देखाजाता ॥५६॥

त्रयाभावे तु निर्द्वैतः पूर्ण एवाभिधीयते ।
समाधि सुप्ति मूर्च्छासु पूर्णः सृष्टेः पुरा तथा ॥१६॥

जिसप्रकार आत्मा,समाधि सुषुप्ति और मूर्च्छाकी अवस्थामें त्रिपुटी-
के अभावसे द्वैतरहित और पूर्णहै, ऐसेही यह सृष्टिकी उत्पत्तिसे
पहिले द्वैतसेरहित पूर्णब्रह्मथा ॥१६॥

इसलिए सुषुप्तिकी मध्यअवस्थाही आत्माकी तुरीयअवस्थारूप
ब्रह्म अवस्थाहै । इसी ब्रह्मात्माके, प्राज्ञ तैजस और विश्व अन्य
तीनों पादरूप विवर्तहैं या विशेषरूपहैं ।

जिससेकि सुषुप्तिकी आदि अवस्थामें आत्माकी कारण अवस्था
समाप्त होरहीहै और इसकी अन्तिम अवस्थामें आत्माकी कारण-
अवस्थाका आरम्भ होजाताहै, अतः सुषुप्तिकी मध्य अवस्थाही
आत्माकी शुद्ध अकर्ता अभोक्तरूप ब्रह्म अवस्थाहै । तोभी यह,
समान जातिवाले आत्माओंसे सजातीय भेदवालाहै । स्वप्नों तथा

जागृतोंमें स्थित आत्माओंसे विजातीय भेदवाला है, अतः यह अनन्त ब्रह्म नहीं है ।

ऐसेतो सत्यज्ञानानन्दके चारपादोंमेंसे सृष्टि कालमें एकपादका सबसे बड़ा अंश सच्चिदानन्द, शुद्धसत्त्वगुणप्रधानमाया उपाधि या इच्छावाला आदित्यस्थानीहोनेसे अन्तर्यामी कहाजाता है और वह अपने सर्वज्ञ आदि गुणोंकेद्वारा अन्य सभी जीवोंकी अपेक्षा ब्रह्म या बड़ा है, तोभी वह अपने सूत्रात्मा और वैश्वानरकेद्वारा स्वगतभेदवाला है तथा अन्य सभी जीवोंसे विजातीय भेदवाला है, अतः वह सत्यज्ञानानन्दका अनन्तरूप न होनेसे वह निरपेक्ष निर्गुणब्रह्म नहीं है ।

ऐसेतो सच्चिदानन्दके चारपादोंमेंसे सृष्टिकालमें एकपाद सच्चिदानन्द, सत्त्व आदि तीनों गुणोंकी उपाधिवाला अर्थात् माया और अविद्या आदि सभी उपाधियोंमें व्यापकहोनेसे सगुणब्रह्म कहलाता है, और वह प्राज्ञ तथा अन्तर्यामीकी अपेक्षा ब्रह्म है । तोभी वह अपने प्राज्ञ आदि अध्यात्मपादोंद्वारा और अन्तर्यामी आदि अधिदैवपादोंद्वारा स्वगत भेदवाला है तथा माया और अविद्याकेद्वारा विजातीय भेदहोजानेकेकारण वह सत्याज्ञानानन्दका अनन्तरूप न होनेसे निरपेक्ष निर्गुणब्रह्म नहीं है ।

सभूमिं सर्वतः स्पृत्वा ऽत्यतिष्ठदृशांगुलम् ।
पादो ऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥

यह मंत्र यजुर्वेदके और ऋग्वेदके पुरुषसूक्तका है । इसका यह अर्थ है कि वह ब्रह्मांडमें व्याप्त होकर भी दश अंगुल ऊपर स्थित है, इसका समस्त विश्व एकपाद है और इसका तीनपाद आवनाशी है । ऐसे तो उक्त मंत्रके अनुसार सृष्टिकालमें होनेवाले सगुण सच्चिदानन्दसे, त्रिपाद विशुद्धसच्चिदानन्द, माया या इच्छारहित होनेसे-निर्गुण निराकार तथा ज्ञेय ब्रह्म है, तो भी वह सगुणसच्चिदानन्द-के द्वारा विजातीय भेद हो जानेसे वह सच्चिदानन्दका अनन्त रूप नहीं है, अतः वह निरपेक्ष निर्गुण ब्रह्म नहीं है ।

इससे यह सिद्ध हुआ कि मंत्र या मंत्रब्राह्मणात्मक उपनिषदोंके अनुसार महाप्रलयकी मध्य अवस्थामें ही सत्यज्ञानानन्दका अनन्तरूप ही चतुष्पाद विशुद्ध निरपेक्ष निर्गुण ब्रह्म है ।

स्मरण रहे कि तुरीय आत्माका, सजातीय और विजातीय भेदवाला होना तथा त्रिपाद ज्ञेय ब्रह्मका विजातीय भेद युक्त होना स्वदृष्टिसे नहीं है और न ज्ञानवान् की दृष्टिसे है । किंतु जाग्रतकालीन जीवकी साधारण दृष्टिको लेकर है । अस्तु ! उक्तरीतिसे सत्त्वज्ञानानन्दका रूप, पांच प्रकारसे ब्रह्म है । १—“द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे” ब्रह्मके दो रूप हैं । इन बृहदारण्य की श्रुतियोंसे, आदित्यस्थानी सच्चिदानन्द, सापेक्षसगुण ब्रह्म है । क्योंकि वह शुद्धसत्त्वगुणप्रधान मायारूपी इच्छाके सहित होनेसे सगुण है और अन्यजीवोंकी अपेक्षा उपास्य तथा प्राप्य होनेसे बड़ा है । अतः वह सापेक्ष सगुण ब्रह्म है ।

२—“सहस्रशीर्षा पुरुषः” इस मंत्रसे असंख्य शिरो आदि

अंगोंवाला “पादोऽस्य विश्वाभूतानि” इसका समस्त विश्व एकपाद है, इस अर्धमंत्रसे, एकपाद सच्चिदानन्द, निरपेक्षसगुण ब्रह्म है। क्योंकि यह सत्त्व आदि तीनगुणोंके युक्त, ईश्वर और जीवोंका समुदायरूप है, इसके आगे अन्य कोई सगुणब्रह्म नहीं है, इसलिये यह, एकपाद सच्चिदानन्द, निरपेक्ष सगुणब्रह्म है।

३—सुषुप्तिकी मध्य तुरीय अवस्थामें स्थित शुद्धसच्चिदानन्दात्मा सापेक्ष निर्गुणब्रह्म है। क्योंकि यह, विश्व तैजस और प्राज्ञनामी जीवकी अपेक्षा, अविद्या रहित होनेसे निर्गुणब्रह्म है। इसलिये यह, सापेक्ष निर्गुणब्रह्म है। ४—“त्रिपादस्यामृतं दिवि” इसका तीनपाद अविनाशी है। इस अर्धमंत्रसे त्रिपाद विशुद्ध ज्ञेयसच्चिदानन्द, सापेक्षनिर्गुणब्रह्म है। क्योंकि यह सुषुप्तिमें स्थित आत्माकी अपेक्षा, सदाही माया अविद्या रहित होनेसे निर्गुणब्रह्म है, इसलिये यह सापेक्ष निर्गुणब्रह्म है। ५—“सदेव” इस छांदोग्यकी श्रुतिसे तथा “आत्मा वा” इस ऐतरेय श्रुतिसे महाप्रलयकी मध्य अवस्थामें स्थित सत्यज्ञानानन्द, चतुष्पाद विशुद्ध निरपेक्ष निर्गुणब्रह्म है। क्योंकि सच्चिदानन्दकी उससे भिन्न अन्य कोई शुद्धब्रह्म अवस्था नहीं है। अतः वह निरपेक्ष निर्गुणब्रह्म है। इसप्रकार सत्यज्ञानानन्द, इन पांच प्रकारके रूपोंमेंसे चारप्रकारके रूपोंसे सापेक्षब्रह्म है और पांचवें अनन्त रूपसे चतुष्पादविशुद्ध निरपेक्षनिर्गुणब्रह्म है।

अर्थात् महाप्रलयमें, सत्यज्ञानानन्दका सबसे बड़ा निर्गुणरूप है।

पूर्वोक्तरीतिसे वैदिक ब्रह्म विचार में ब्रह्मका स्वरूप तथा उसका निर्गुणरूप नामवाला पहिला प्रकरण समाप्त हुआ ।

२—सगुण ब्रह्म

चतुष्पादविशुद्धसच्चिदानन्दका एकपादविशुद्ध सच्चिदानन्दही सत्त्व आदि तीनों गुणोंके सहित-होनेसे सगुणब्रह्म है ।

यजुर्वेदके पुरुष सूक्तमें मंत्र—

ॐ त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥

(अविनाशी पुरुष) तीनपादसे ऊर्ध्व वा उत्कृष्ट स्वस्वरूपमें विद्यमान रहता है, उसका एकपाद यहां अर्थात् सृष्टिमें विश्वरूप हुआ है, वह उस एकपादसे नाना प्रकारके भोग्य और भोक्ता रूपसे स्वयं ही विस्तारको प्राप्त हुआ है । इस मंत्रके अनुसार, सत्त्व आदि तीनगुणोंके सहित एकपाद सत्यज्ञानानन्द या अस्ति भाति प्रिय रूपही सगुणब्रह्म है । ब्रह्मके चारोंपाद पैर या भाग वास्तविक नहीं हैं । क्योंकि ब्रह्म निरवयव और अप्रमेय है । इसलिये पादोंकी कल्पनाही है । सच्चिदानन्दब्रह्मके चारपादोंको घोड़े आदि पशुओंके चारपादोंके समान नहीं समझना चाहिये । क्योंकि घोड़े आदिका पैर कटकर अलग होजानेपरभी यह घोड़ेका पाद या पैर है ऐसा कहाजाता है । परन्तु सच्चिदानन्दब्रह्मके

चारोंपाद, ब्रह्मसे भिन्न अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं रखते । इसलिये ब्रह्मके चारपादोंको रुपये की चारचवन्नियोंके समान जानना चाहिये । जिसप्रकार चारचवन्नियां रुपयेसे अलग अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं रखतीं, किंतु वे रुपया ही हैं । इसीप्रकार ब्रह्मके चारपादोंको जानना होगा । जैसे चारचवन्नियोंमेंसे एक चवन्नी, दो आना एक आना अधन्नी पैसा और पाईके रूपको धारण करती हैं ऐसेही ब्रह्मके चारपादोंमेंसे एकपाद सृष्टिको प्राप्त हुआ है । उसमेंभी जहां जहां इच्छा है वहां वहां ईश्वरता और जीवता है । शेष सामान्य चैतन्य शुद्ध निर्गुणब्रह्म है ।

चतुष्पाद विशुद्ध ब्रह्मसच्चिदानन्दके एकपाद विशुद्ध निर्गुणब्रह्मसच्चिदानन्दसे सृष्टिकी उत्पत्तिका वर्णन—

तैत्तिरीय ब्रह्मानन्दवल्लीके छठे अनुवाकमें श्रुति—“सोऽकामयत् । बहुस्यां प्रजायेयेति” उस चतुष्पाद विशुद्ध निर्गुणब्रह्म सच्चिदानन्दने एकपाद विशुद्ध निर्गुणब्रह्म सच्चिदानन्दके द्वारा कामना या इच्छा की । मैं प्रकट होऊँ और नामरूपके द्वारा बहुत होजाऊँ ।

ऐसेही उपनिषदोंमें जहां जहांपर भी सत्से या आत्मा आदि नामसे सृष्टिकी उत्पत्तिका वर्णन है, वहां वहांपर चतुष्पाद विशुद्धब्रह्म सच्चिदानन्दके एकपाद विशुद्धब्रह्म सच्चिदानन्दके द्वारा ही

सृष्टिकी उत्पत्तिका ग्रहणकरना चाहिए । सृष्टिकी उत्पत्ति एकपाद विशुद्धब्रह्मसेही बनसकती है, सगुणब्रह्मसे नहीं । क्योंकि सगुणब्रह्मता तो उसमें इच्छाहोजानेसे उस एकपाद विशुद्धब्रह्मकीही विशेष अवस्था है । इसलिये विशुद्धब्रह्म एकपाद सच्चिदानन्दसेही सृष्टिकी उत्पत्तिको ग्रहणकरना उचित है ।

ऐतरेय उप० प्रथम खण्डमें श्रुति—“आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत् । स ईक्षत लोकान्सृजा इति” —यह सब आगे आत्माही था और कुछ नहीं था, उस एकपाद सत्यज्ञानानन्दरूप आत्माने इच्छाकी कि मैं सत्य आदि लोकोंको रचूं ।

छान्दोग्य० अध्याय ६ खण्ड २ में श्रुति—“सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति”—हे सोम्य, यह सब आगे एकही अद्वितीय सत् था । उस सत्ने इच्छाकी मैं प्रकटहोऊं और नाम रूपकेद्वारा बहुत होजाऊं ।

यजुर्वेदके पुरुष सूक्तमें मंत्र—

प्रजातिश्चरति गर्भे अन्तरजा-

मानो बहुधा विजायते ।

तस्य योनिं परिपश्यन्ति

धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥

प्रजापति, सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें स्थितहुआ मायाके गर्भरूप कारण कार्य या पिंड ब्रह्मांडमें प्रवेशकरताहै, वास्तवमें अजन्मा होकरभी कारण कार्यके रूपमें उत्पन्नहोताहै, ब्रह्मवेत्ता उसके परमार्थ सत्य स्वरूपको अनुभवकरतेहैं, जिसमें समस्त भुवन स्थितहैं । इस मंत्रसेभी ब्रह्मकोही जगत्केरूपमें उत्पन्न होनेवाला कहागयाहै ।

ब्रह्म यह नाम नपुंसक रूपहै, परन्तु उसका सच्चिदानन्दरूप सर्वात्माहोनेसे स्त्रीके रूपमें और पुरुषलिंगमेंभी है । इसीसे सृष्टि-की उत्पत्ति “तदैक्षत-यहांपर तत् नामसे और सोऽकामयत”—यहांपर (स) इस नामसे दिखाईगईहै ।

तदैक्षत इसमें तत् यह पद, सोऽकामयत इसमें स यह पद दोनोंही, चतुष्पाद विशुद्ध निर्गुणब्रह्मसच्चिदानन्दके स्मारकहैं । ऐक्षत और अकामयत इनसे, सबप्रकारकी इच्छाओं या काम-नाओंका ग्रहणकरनाचाहिये ।

मुंडक उप० मुंडक १खंड १मंत्र ७—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्या—
मोषधयः संभवन्ति । यथा सतः पुरुषात्केश लोमा-
नि तथान्नरात् संभवतीह विश्वम्॥ जिसप्रकार मकड़ी
जालेको बनातीहै और निगल जातीहै तथा जैसे पृथ्वीमें अनेक
प्रकारकी ओषधियां उत्पन्नहोतीहैं और जैसे जीवित मनुष्यसे

केश और रोम पैदाहोतेहैं इसीप्रकार अविनाशीब्रह्म सच्चिदानन्दसे इस सृष्टिमें सब कुछ उत्पन्न होताहै । यह मंत्रका अर्थहै । तैत्तरीय उप० के छठे अनुवाकमें श्रुति—

सोऽकामयत । बहुस्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा । इदं सर्वसमृजत । यदिदं किंच । तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य । सच्च त्यच्चाभवत् । निरुक्तंचानिरुक्तं च । निलयनं चानिलयनं च विज्ञानं चाविज्ञानं च । सत्यं चानृतं च । सत्यमभवत् । यदिदं किंच । तत्सत्यमित्याचक्षते ।

उस सत्यज्ञानानन्दने विचारकिया कि मैं जन्म ग्रहण करूँ और बहुत होजाऊँ । इसके अनन्तर उसने तप किया अर्थात् अपने संकल्पका विस्तारकिया । उसने इसप्रकार संकल्पका विस्तारकरके जो कुछभी यह देखनेमें और समझनेमें आरहाहै इस समस्त जगत्की रचनाकी । इस जगत्की रचना करनेके अनन्तर वह स्वयं उसीमें साथ साथ प्रविष्टहोगया । उसमें साथ-साथ प्रविष्टहोनेके पीछे वह स्वयंही मूर्त और अमूर्त बतानेमें आनेवाले और बतानेमें न आनेवाले तथा आश्रय देनेवाले और आश्रय न देनेवाले, चेतना युक्त और जड़ पदार्थ तथा

सत्य और झूठ इन सबके रूपमें वह स्वयंही होगया । जो कुछ भी यह दिखाई दे रहा है और अनुभवमें आ रहा है वह सत्य ब्रह्म ही है । इस प्रकार ज्ञानीजन कहते हैं । यह इन श्रुतियोंका अर्थ है ।

ब्रह्मको जगत्की अभिन्ननिमित्तोपादानकारणता

पूर्वोक्त श्रुतियोंमें सत्यज्ञानानन्दब्रह्मको जगत्का अभिन्न निमित्तोपादानकारण कहा गया है । जिसमेंसे कार्य बनाया जाता है वह उपादानकारण होता है, और जो कार्यको बनानेवाला होता है वह निमित्तकारण कहलाता है—जैसा कि मृत्तिका नाम मिट्टी उपादानकारण है । कुंभार निमित्तकारण है । बननेवाला घड़ा कार्य कहलाता है । यहां उपादानकारण मिट्टी भिन्न है और कुंभार अलग है । इससे घटरूपी कार्य, भिन्न निमित्त उपादान कारणवाला हुआ । परन्तु जगत्की रचनामें कुंभारका दृष्टान्त लागू नहीं है । क्योंकि ब्रह्म, जगत् रूपी कार्यमें व्यापक है । अतः वह आपही जगत् बनता है और अपने आपही बनानेवाला है । तात्पर्य यह कि बननेवाला और बनानेवाला आपही हीनेसे वह जगत्का अभिन्न निमित्तोपादानकारण है । पंचदशीके चित्रदीप प्रकरणमें भी शुद्धब्रह्मसेही सृष्टिकी उत्पत्ति वस्त्रके दृष्टान्तसे कही गई है । श्लोक १ जैसे चित्रपटमें चार अवस्थाएं देखी गई हैं ऐसेही परमात्मामें भी चार अवस्थाएं हैं । श्लोक २ जैसे वस्त्र, धौत, घट्टित, लांछित और रंजित होता है, ऐसेही परमात्मा, चित्

अन्तर्यामी सूत्रात्मा और विराट कहाजाताहै । श्लोक ३ किसी अन्य द्रव्यके संबन्ध बिना वस्त्र, धौत होताहै, मांडदेनेसे घट्टित मसिरूप चिन्होंसे युक्त लांछित और चित्र बनजानेसे रंजित होजाताहै । श्लोक ४ परमात्मा, माया और उसके कार्यसे रहित चित् कहाजाताहै, मायाके संबन्धसे अन्तर्यामी, सूक्ष्मसृष्टिसे सूत्रात्मा और स्थूलसृष्टिद्वारा विराट कहाजाताहै । इसप्रकार शुद्धब्रह्मकीही चारों अवस्थाएं बतलाईगईहैं ।

“सोऽकामयत ।” “बहुस्या” — उस आनन्दब्रह्मने कामनाकी बहुत होजाऊं । इसी कामना या इच्छाका नाम, रजोगुण और तमोगुणकेद्वारा मलिन न होनेकेकारण शुद्धसत्त्वगुण प्रधानहोने से मायाहै । तथा रजोगुण और तमकेद्वारा मलिनहोजानेसे मलिनसत्त्वगुणप्रधान अविद्याहै । एवं जगत्का बीजहोनेकेहेतु कारणशरीरहै ।

इच्छाकी उत्पत्तिका समय और उसका रूप- जिससे कि महाप्रलयकी आदि अवस्थामें ब्रह्मकी कारणता विलीन होनेलगतीहै और मध्य अवस्था शुद्धहै, अतः यह इच्छा महा-प्रलयकी अन्तिम अवस्थामें हुईहै । यह माया और अविद्या रूपी सामान्य इच्छा, महाप्रलयकी मध्य अवस्थामें अनन्तब्रह्म सच्चिदानन्दसे भिन्न नहींहै, अतः इसे ब्रह्मसे भिन्न नहीं कहाजा-सकता । यह इच्छा, महाप्रलयकी अन्तिम अवस्थामें ब्रह्ममें प्रकट

हुई है इसलिए इसको ब्रह्मसे अभिन्नभी नहीं कहा जा सकता । यह प्रतीत हो रही है इससे यह असत् नहीं है, महाप्रलय आदिकी मध्य अवस्थामें तथा विदेहकैवल्यकी अवस्थामें यह नहीं रहती है, इससे सत्भी नहीं है, इसीसे यह अनिर्वचनीय या अकथनीय-ही है । यह इच्छा, सत्व या प्रकाशरूप, सजस् या चंचलरूप, तमस् या आवरणरूप इन तीनों गुणोंवाली होनेसे त्रिगुणात्मका कही जाती है । तथा परिणामी या परिवर्तन स्वभाववाली है, महाप्रलयकी मध्य अवस्थामें यह अव्यक्तरूपा ही है, इसका अन्य कुछ भी नाम नहीं है । सांख्यशास्त्रने इसका, उस समयकी अवस्थामें प्रधान नाम रखा है । परन्तु वास्तवमें देखा जाए तो वहांपर केवल सच्चिदानन्दका अनन्तरूप ब्रह्म ही प्रधान होगया है, वहां यह किसो नाम या तर्कका विषय नहीं है ।

यह यदि आदिके सहित है तो अन्तवाली है यह यदि अनादि है तो फिर यह अनन्त ही है । किन्तु ब्रह्मज्ञानीकी दृष्टिमें यह कुछ भी वस्तु नहीं है । महाप्रलयकी अन्तिम अवस्थामें यह विषमताको प्राप्त होगई है । इस अवस्थामें इसका प्रधान प्रकृति माया अविद्या कारणशरीर या आनन्दप्रय आदि नाम होगया है ।

इच्छाका आश्रय और विषय—

यह तीनगुणोंकी अवस्थारूपी इच्छा, ब्रह्मको ही अपना आश्रय-बनाकर रहती है—इसीसे यह ब्रह्माश्रया कही जाती है । और ब्रह्म-

कोही आच्छादन करतीहै—इसीसे यह स्वविषया कहलातीहै ।

भानुप्रभा संजनिताभ्रपंक्ति—

भानुं तिरोधाय विजृम्भते यथा ।

आत्मोदिताहंकृतिरात्मतत्वं,

तथा तिरोधाय विजृम्भते स्वयम् ॥

जिसप्रकार सूर्यके तेजसे उत्पन्न हुई मेघमाला सूर्यहीको ढंककर स्वयं फैलजातीहै—उसी प्रकार आत्मासे प्रकट हुई अहंवृत्ति, आत्माकोही आच्छादितकरके स्वयं स्थित होजातीहै । विवेक चूड़ामणिके इस १४४ श्लोकानुसार, यह इच्छाही आनन्दमय आदिं कोशोंका रूप ग्रहणकरके शुद्धसत्त्वगुणप्रधानहोनेसे माया और मलिन सत्त्वगुणप्रधानहोनेपर ब्रह्मकी आच्छादक होजातीहै । इसका इच्छाके रूपमें होजानाही सच अनर्थोंका हेतुहै और यह अनिच्छारूपसे दुखका कारण नहींहै । इसीलिये श्रुतियोंने सुषुप्तिकी अवस्थामें जीवकी ब्रह्मरूपता स्वीकारकीहै, इसीका आगे विशेषरूपसे वर्णन किया जा रहाहै ।

इच्छाकाही विशेष नाम—

इस माया या इच्छाका नाम कोशभीहै । कोश नाम आवरण ढकने या पड़देकाहै । यह आनन्दमयकोश या सामान्य इच्छाही ब्रह्मके सच्चिदानन्दरूपको आच्छादनकरके उसे जगत्के रूपमें बनादेतीहै । इसीसे इसे कोशनामसे कहा—

गया है। इसी आनन्दमयकोशके विषयमें ऐतरेय० के खंड २ में ऐसी श्रुति है। “स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत । सैषा विद्वतिनाम द्वास्तदेतन्ना-न्दनं ।” सदात्मा इसी आनन्दमय या कारणशरीररूपी वृत्ति-का विदीर्ण या विस्तारकरके वह इसीकेद्वारा प्राविष्टहोगया। भावार्थ यह कि वह विज्ञानमय आदि कोशोंमें वहिसुख या बाहर जानेकेलिए तैयारहोगया। यह आनन्दमयही आनन्दब्रह्म-के प्रवेशके या बाहर जानेकेलिए विद्वति नाम द्वाः—विस्तृत द्वार है। या बड़ा दरवाजा है। यह आनन्दमय, आनन्दप्रधानहोने-से नान्दन नामवाला है। प्रकरण प्राप्त तैत्तरीयकी “तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्”—इस श्रुतिकाभी यही अर्थ है कि उस सच्चिदानन्दने इस वृत्तिको रचा और इसको रचकर उसीने इसीमें प्रवेश किया। इसी इच्छावृत्तिरूपा कोश या ढकनेमें आजानेके कारण या उसपर ऐसा आवरण आजानेसे ब्रह्मके स्थानमें मांडूक्य उपनिषदकी श्रुतिके अनुसार इसका नाम अब प्राज्ञ होगया।

ब्रह्मात्मका प्राज्ञनाम इससे हुआ कि इसमें, सभी विशेष ज्ञान धनी भूत या एकरूपहोकर रहते हैं।

पहिली इच्छा

उपरोक्त “सो अकामयत्”—उसने कामनाकी, इस श्रुतिसे माया

अविद्यारहित, शुद्ध सच्चिदानन्दब्रह्ममें पहिली इच्छा, अस्मि-हुं इसप्रकारकी हुई-जोकि सात्विकी राजसी आदि सामान्य इच्छाओंका सामूहिकरूप है । जिससेकि वह तीनपादोंसे विशुद्ध या इच्छा रहित निगुण ब्रह्म बनारहा और उसका एकपाद प्राज्ञोंका समूह सगुणब्रह्म होगया । निगुणब्रह्ममें जहांपर शुद्धसात्विकी अस्मि ऐसी सामान्य इच्छा हुई, वहां वह निरपेक्ष अन्तर्यामी ईश्वर होगया, जोकि प्राज्ञविशेष या पुरुषविशेष ईश्वरभी कहा-जाता है । ब्रह्ममें, जहां जहांपर शुद्धसात्विकी इच्छाकी अपेक्षा मलिनसात्विकी इच्छाहुई, वहां वहांपर वह प्राज्ञनामी सापेक्ष ईश्वर होगया । कारणकिप्रत्येकप्राज्ञ, अपने २ कारणशरीरका नियन्ताहोनेसे ईश्वर है । और एक दूसरेकी अपेक्षा छोटा बड़ा होनेसे सापेक्ष ईश्वर है । जिससेकि कामना या इच्छा वृत्तियां असंख्य हैं-इससे प्राज्ञभी असंख्यही हैं । क्योंकि ये प्राज्ञ, सूक्ष्म-शरीरकेद्वारा कर्ता भोक्त्रारूपी जीवका रूप धारणकरने हैं--इसीसे ये सभी प्राज्ञ, जीव कोटिमें माने गए हैं किन्तु ईश्वर कोटिमें गौण हैं । यहांसे ब्रह्मकी कारण अवस्था आरम्भ हुई है ।

दूसरी इच्छा

“बहुस्यां प्रजायेयेति” मैं बहुत होजाऊं, अनेक प्रकारसे प्रकट होऊं । इस उत्तरार्थ श्रुतिसे, मैं बहुत होजाऊं इसप्रकारकी दूसरी इच्छा, ब्रह्मके एकपादरूप सभी प्राज्ञोंमें सूक्ष्मशरीरोंकेलिये हुई ।

यहां ब्रह्मकी कारण अवस्था पूर्ण होगई । इसप्रकार निगुण चतुष्पादब्रह्मके एकपाद अस्ति भाति प्रियने शुद्धसत्त्वगुणप्रधान-माया उपाधि और मलिनसत्त्वगुणवधान अविद्या उपाधि या आनन्दमयकोश या कारणशरीर या कामनावाले संपूर्णप्राज्ञोंके-रूपद्वारा निश्चय करनेकी कामानाकी और अपनी इच्छाशक्ति-को प्रेरणाकी, तब सात्त्विकी इच्छाने उसकी आज्ञा स्वीकारकरते-हुए बुद्धि और बुद्धिकेद्वारा निश्चयका रूप धारणकिया । यहां से ब्रह्मरूप प्राज्ञको कर्तारूप अवस्थाका आरम्भ होगया । इसके अनन्तर सच्चिदानन्दब्रह्मने समग्र प्राज्ञोंकेरूपद्वारा संकल्प करनेकी कामनाकी, तबतो कामनाने बुद्धिकेद्वारा मन और मनकेद्वारा संकल्पका रूप धारणकिया । उक्त ब्रह्मने सुननेकी चाहकी और इच्छाको प्रेरणाकी, तब इच्छाने मन या अहंकार-केद्वारा शब्द और शब्दकेद्वारा श्रोत्र इन्द्रियका रूप धारणकिया फिर ब्रह्मने स्पर्श करनेकी कामनाकी और कामनाको प्रेरितकिया तबतो कामनाने शब्दकेद्वारा स्पर्श और स्पर्शकेद्वारा त्वचा इन्द्रिय-का रूप धारणकिया । उसके पीछे ब्रह्मने देखनेकी चाहकी और चाहको प्रेरणाकी, तब चाहने स्पर्शकेद्वारा रूप और रूपकेद्वारा नेत्र इन्द्रियका रूप ग्रहणकिया । फिर ब्रह्मने स्वाद लेनेकी भावनाकी और भावनाको प्रेरित किया, तब भावनाने रूपके-द्वारा रस और रसकेद्वारा अपनेको रसना इन्द्रियके रूपमें बना-लिया । इसके पीछे ब्रह्मने गन्ध लेनेकी कामनाकी और कामना

की प्रेरणाकी, तबतो कामनाने रसकेद्वारा गन्ध और गन्धके-
 द्वारा नासिकाका रूप ग्रहण किया । ये पांच ज्ञानेन्द्रियां या
 जाननेवाली इन्द्रियां हुई हैं । फिर ब्रह्मने श्वास लेनेकी कामना-
 की, तब राजसी कामनाने प्राण अपान समान व्यान और उदान
 नामक पांचों प्राणोंका रूप धारण किया । इसके अनन्तर अस्ति
 भातिप्रियने अखिल प्राज्ञोंकेरूपद्वारा बोलनेकी इच्छाकी, और
 इच्छाको प्रेरणाकी, तब राजसी इच्छाने शब्दकेद्वारा वागिन्द्रिय
 या वाणीका रूप धारण किया । उक्त ब्रह्मने ग्रहण करनेकी
 इच्छाकी, तो इच्छाने स्पर्शकेद्वारा पाणी या हाथका रूप ग्रहण
 किया, फिर ब्रह्मने चलनेकी इच्छाकी, तब इच्छाने अपनेको
 रूपकेद्वारा पाद या पैरोंके रूपमें परिवर्तित किया । फिर ब्रह्मने
 आनन्द लेनेकी इच्छाकी, तबतो इच्छाने रसके द्वारा उपस्थ
 इन्द्रियके रूपको धारण किया । फिर उक्त ब्रह्मने त्यागनेकी
 इच्छाकी, तब इच्छाने गन्धकेद्वारा गुदा इन्द्रियका रूप धारण
 किया । ये पांचों कर्मेन्द्रियां या कर्म करनेवाली इन्द्रियां बन गईं ।
 बुद्धि मन पांचज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां और पांचप्राणोंको
 मिलाकर १७ तत्त्वोंका यह सूक्ष्मशरीर बन गया । इतनी सूक्ष्म-
 सृष्टि है । इसी सूक्ष्मशरीरके कारण सच्चिदानन्द ब्रह्म पर अव-
 तीनकोश या आवरण और आगये । बुद्धि प्रधान पांच ज्ञानेन्द्रि-
 यां विज्ञानमयकोश, तथा मन जिसमें प्रधान पांच ज्ञानेन्द्रियां
 मनोमयकोश, एवं प्राणप्रधान पांचकर्मेन्द्रियां प्राणमयकोश है ।

सत्यज्ञानानन्दके स्वरूपभूत समस्त प्राज्ञोंकी इसी सूक्ष्मशरीर या स्थानके कारण अब तैजस संज्ञा होगई । प्राज्ञका तैजस यह नाम इसलिये हुआ कि इसमें, सभी विशेषज्ञान प्रकाशित होगए या चमक उठे हैं । यह कर्ताका पूर्ण रूप होगया । शुद्धसत्त्वगुण-प्रधान इच्छावाले अन्तर्यामी या पुरुष निशेष ईश्वरने अपनेलिये अपनी इच्छासे हिरण्यगर्भ नामका सूक्ष्मशरीर बनालिया, उसी स्थानमें आजानेके कारण अन्तर्यामीका नाम तब अपरब्रह्म या सूत्रात्मा होगया । उसका सूत्रात्मा यह नाम इसलिए है कि उसके ज्ञानमें सम्पूर्ण सृष्टि प्रोत या पिरोई हुई है ।

तीसरी इच्छा

इसके पीछे प्राज्ञोंके रूप तैजसोंको स्थूलशरीरोंकी इच्छा उपजी । ऐसे तो ये स्थूलशरीर इन्हींके पूर्वमें किए हुए कर्मोंके फल या परिणाम हैं । तो भी ये इसके बनानेमें पहले तो असफल ही रहे । सूक्ष्मशरीर तक तो ये स्वतंत्र रहे । बृहदा० अ० ४ ब्राह्मण ३-
 “अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति” स्वप्न और सुषुप्तिकी अवस्थामें यह पुरुष स्वयं ज्योति या स्वयं प्रकाश होता है, इस श्रुतिके कथनके अनुसार ये स्वतंत्र ही रहे । परन्तु इसके पीछे इनको दूसरे प्रकाशककी आवश्यकता हुई । जिससे कि इस कार्यके करनेमें सम्पूर्ण तैजसोंकी इच्छाशक्ति काम नहीं कर सकी-इसीलिये समस्त तैजसोंको अपनेलिये बृहत्कार्यके करने,

वाले एक स्वामीकी अपेक्षा हुई, तब सब तैजसोंने, शुद्धसत्त्वगुण-प्रधानमाया या इच्छावाले अपरब्रह्मान्तर्यामी सूत्रात्मासे प्रार्थनाकी कि आप हमारेलिए बाह्यभोगोंको भोगनेकेयोग्य स्थूलशरीरोंको रचदीजिए ।

तीसरी इच्छा

“तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः संभूतः”

उस आत्मासे आकाश पैदा हुआ । इस तैत्तरीय श्रुतिसे, तीसरी इच्छा, हिरण्यगर्भ या अपरब्रह्ममें, स्थूलभूतोंकी उत्पत्तिकेलिये हुई । तब अपरब्रह्मने इनकी प्रार्थना स्वीकारकरते हुए तमोगुणसे आकाश, आकाशके द्वारा वायु, वायुकेद्वारा तेज, तेजकेद्वारा जल, और जलकेद्वारा पृथ्वीको, रचकर इनपांच स्थूल भूतोंका पंचीकरण या इनको मिश्रित किया । प्रत्येक भूतके आधे आधे भागमें दूसरे भूतोंका चौथा चौथा भाग मिलाया-गया-ब्रह्मसूत्र अ० २ पाद ४ सूत्र २२ “वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः” इसके अनुसार, यह पृथ्वीहै यह जलहै यह तेजहै इसप्रकार इन भूतोंका विशेषरूप कथन करनेमें आया और आरहाहै । फिर इनकेद्वारा जीवोंके निवासार्थ भू से आदि लेकर सत्यलोक पर्यन्त सात लोकों या स्थानोंको बनाकर और सात नीचेके अतल आदि लोकोंको बनाकर सूत्रात्माने प्रथम अपनेलिए शुद्धसत्त्वगुण आदि सामग्रीकेद्वारा विराट सृष्टिके

मुख्य अंग, सूर्य नामवाले शरीरको बनाया, इसी उपाधि या स्थानमें निवास करनेकेद्वारा अपरब्रह्मका नाम अब वैश्वानर होगया। क्योंकि यह विश्व नामवाले सभी नरोंके नेत्रोंको प्रकाशदेताहै, इसीसे इसका नाम वैश्वानर हुआहै। अपरब्रह्मने इन तैजस जीवोंके बाह्यविषयोंके भोगनेयोग्य और इनकेही कर्मोंके फल स्वरूप तथा मैथुनी या स्त्रीपुरुषोंकेद्वारा सृष्टि उत्पन्न करने योग्य समग्र स्थूलशरीरोंको रचदिया या तैजस नामवाले सभी जीवोंपर इन स्थूलशरीरोंका खोल चढ़ादिया। ब्रह्मात्मा पर अब यह अन्नमय नामका पांचवां कोश या आवरण आगया। उसके अनन्तर वे सभी तैजसजीव, आगेकेलिये स्थूलशरीरोंको बनानेकेलिये स्वतन्त्र होगए। यह कथा ऐतरेय उपनिषद् खण्ड २ में “ता एनमब्रुवन्नायतनं नःप्रजानी हि यस्मिन्प्रतिष्ठता अन्नमदामेति”— वे जीव परमात्मासे बोलेकि हमारेलिये स्थान बनादीजिए, जिसमें स्थित होकर हम लोग अन्न खासकें। इसश्रुतिके आधारपर लिखी गईहै। जिससे कि ये तैजसजीव, मोक्ष अवस्थामें पहुँचकरभी आकाश आदि पांचभूतोंको और इन भू या पृथिवी आदि लोकोंका अभाव या इन्हें लीन नहीं करपाते, अतः इतनी सृष्टि अपरब्रह्मके संकल्पसे रचीगईहै और अन्तमें उसीकी इच्छासे लीन होवेगी। यही बात ब्रह्म सूत्र अ० ४ पाद ४ जगद् व्यापार वर्ज

प्रकरणादसंनिहितत्वात् ॥१७॥ प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारक मंडलस्थोक्तेः ॥१८॥ इन दोनों सूत्रों में कही गई है । इनका अर्थ प्राप्यब्रह्म प्रक-में लिखा है । सच्चिदानन्द ब्रह्मात्माके रूप प्राज्ञ और प्राज्ञके रूप तैजस नाम-वाले प्रत्येक जीवने इस उपाधि या स्थानकेद्वारा अपना विश्व नाम ग्रहण किया । एकपाद ब्रह्म सत्यज्ञानानन्दके इन्हीं स्थूल-शरीरोंके द्वारा देव दानव मानव पशु पक्षी कीट और पतंग आदि अनेक नाम होगए ।

पहिली इच्छा, निर्गुण शुद्ध सच्चिदानन्द अनन्तब्रह्ममें हुई । उसीकेद्वारा उसका मायाकेसहित ईश्वरान्तर्यामी नाम होगया और अविद्याकेसहित उसके प्राज्ञ नाम होगये । दूसरी इच्छा, सूक्ष्मशरीर उत्पन्नकरनेकेलिये ईश्वरमें और प्राज्ञोंमें हुई । उसी सूक्ष्मशरीरकेद्वारा, ईश्वरका नाम अपरब्रह्म हुआ अन्य प्राज्ञोंके नाम तैजस होगये । तीसरी इच्छा, पांच स्थूलभूतोंकी उत्पत्ति केलिये अपरब्रह्ममें हुई । और तैजस जीवोंमें इच्छा, उन स्थूल-भूतों तथा भूतोंके कार्योंके भोगनेकेलिये हुई । अबभी सुषुप्तिके अनन्तर होती है ।

इसप्रकार ब्रह्मात्माकाही सृष्टिकालमें होनेवाली अब सुषु-प्तिकी मध्य तुरीय अवस्थामें इच्छारहितहोनेसे शुद्ध अकर्ता अभोक्ता रूप है, और मांडूक्य उपनिषदकी “नान्तःप्रज्ञ” इत्यादि

श्रुतियोंसे आत्माब्रह्म यह नाम है । और यह जाग्रत स्वप्न और सुषुप्तिकी अन्तिम अवस्थाकी अपेक्षासे भी ब्रह्म है । तात्पर्य यह कि इसका अकर्ता अभोक्ता शुद्ध आत्माब्रह्म यह नाम है । तथा इसीका हृदयके मध्य सुषुप्तिकी अन्तिम कारण अवस्थामें भोक्ता रूप प्राज्ञ नाम है । एवं स्वप्न अवस्था कंठमें निवास होनेसे ब्रह्मात्माका ही प्राज्ञके द्वारा भोक्ता और कर्तारूप तैजस नाम है । और जाग्रत अवस्था दाहिने नेत्रमें निवास होनेसे सच्चिदानन्द ब्रह्मात्माका ही प्राज्ञ एवं तैजसके द्वारा भोक्ता कर्ता और कर्म करता हुआ विश्व नाम है । इसका विश्व नाम इसलिये हुआ है कि इसमें समस्त विशेषज्ञान बाहर आ चुके हैं । इसरीतिसे वह एकसे अनेक हुआ है । ऐतरेय उप० के अनुसार, वाणीका देवता अग्नि है, नासिकाका देवता वायु है, नेत्रका देवता सूर्य है, श्रोत्रकी देवता दिशाएँ हैं, त्वचाके ओषधि और वनस्पतियाँ देवता हैं, मन या अन्तःकरणका देवता चन्द्रमा है, गुदाका देवता यम है, और उपस्थका जल देवता है । इस पाठको अन्य देवताओंका भी उपलक्षण समझना चाहिये । अतः हाथोंका देवता इन्द्र है, पादका देवता विष्णु है, और रसनाका देवता वरुण है ।

अस्तु “सर्वं खल्विदं ब्रह्म” छान्दोग्य० की इस श्रुतिसे यह समस्त विश्व ब्रह्मका ही स्वरूप है । मुं० ङक उप० मुं० क २ खंड १ मंत्र १ “तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फु-

लिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः । तथाक्षरा-
द्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति”

हे सोम्य—प्रिय, वह सत्य है कि जैसे प्रज्वलित अग्निमेंसे उसीके समान रूपवाली हजारों चिन्गारियां अनेक प्रकारसे प्रकट होती हैं उसीप्रकार अविनाशी ब्रह्मसच्चिदानन्दसे अनेक प्रकारके चराचर पदार्थ उत्पन्न होते हैं और अन्तमें उसीमें लीन हो जाते हैं । इस मंत्रसे यह बात कहो गई है कि यह जगत् ब्रह्मका ही विवर्त है । विवर्त नाम उसका है जो वस्तु अपने स्वरूपको न त्यागकर दूसरे रूपमें प्रतीत होने लगे या भासने लगे । जैसा कि अग्नि, अपने उष्ण प्रकाश या गरम चानणोंके रूपको न त्यागती हुई चिन्गारियोंके रूपमें भासने लगती है । जैसा कि सुवर्ण या सोना, अपने रूपको न त्यागता हुआ कंगन आदि आभूषणोंके रूपमें प्रतीत होता है । और जैसे नदी आदिका जल, अपने रूपको न छोड़ता हुआ तरंग या लहरोंके रूपमें प्रतीत होता है । इसीप्रकार एकपादब्रह्म, अपने सच्चिदानन्दरूपको न त्यागता हुआ नामरूप या कारण कार्यके रूपमें भासने लगता है । इसीका नाम विवर्तवाद या विशेषरूपसे वर्तना कहा जाता है । यह विषय मनुष्यके दृष्टान्तसे भलीप्रकार समझमें आसकता है । इसीलिए पहले दृष्टान्तको लिख देना उचित प्रतीत होता है । जिससे कि ब्राह्मण, क्षात्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारोंही नाम, वर्ण विभाग या डिपार्टमेंटके

वाचक हैं । परन्तु आज ये चारों नाम जाट गूजर आदि कर्म रहित नामोंकी भान्ति केवल वंशकी परम्परा पर आरुढ़ होगए हैं, इसलिए इन नामोंका कर्मपर उदाहरण न लेकर, यूँ समझना चाहिए—जैसाकि मनुष्य, एक सामान्य नाम और रूपवाली वस्तु है, जबतक इसके साथ किसी विशेष कर्मका सम्बन्ध नहीं होजाता तबतक यह केवल मनुष्यही कहलाता है । जब मनुष्यके साथ किसी अध्यापन या पढ़ाना आदि विशेष कर्मका सम्बन्ध हुआ तब इसका केवल मनुष्य नाम नहीं रहता है । इसका आचार्य उपाध्याय राजा, मंत्री, व्यापारी, किसान, नाई या कुम्भार आदि विशेष या मिश्रित नाम होजाता है । और पुत्र आदिके सम्बन्धसे पिता आदि मिश्रित नाम होजाता है । यह तो मनुष्यके दृष्टान्तसे मनुष्यका विवर्त सिद्ध हुआ । इसप्रकार अब दार्ष्टान्तमें ब्रह्मसच्चिदानन्दका विवर्त समझना चाहिए । वह इसप्रकार है—सत्यज्ञानानन्द या सत् चित् आनन्द या अस्तिभाति प्रिय, यह एक सामान्यरूप है, जबतक इसमें अनन्तत्व या अनन्तपना है, तबतक यह परब्रह्म या निर्गुणब्रह्म कहलाता है । अनन्त ब्रह्मका ऐसा सच्चिदानन्दरूप, केवल महाप्रलयकी मध्य अवस्थामें ही है । जब अनन्तब्रह्म या सबसे बड़े सच्चिदानन्दके एकपादके साथ शुद्धसात्विकी इच्छाका सम्बन्ध हुआ और मलिनसात्विकी कामनाका मेल हुआ, तब उसका विशेष या मिश्रित नाम अन्तर्यामी और प्राज्ञ नाम होगया । ब्रह्मका ऐसा

कारण और भोक्तारूप, महाप्रलयकी अन्तिम अवस्थामें हुआ । ब्रह्मकी प्रेरणासे जब इच्छाने महत्त्व और बुद्धि तथा बुद्धिके द्वारा मन या अहंकार और मनकेद्वारा पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच प्राण और पांच कर्मेन्द्रियोंके रूपको धारण किया, तब उसका अन्तर्यामी और प्राज्ञकेद्वारा विशेष या मिश्रित नाम अपरब्रह्म और तैजस नामहुआ । सच्चिदानन्दब्रह्मका ऐसा भोक्ता और कर्तारूप, कर्तापनकी स्वप्न अवस्था या सूक्ष्म शरीरकी पूर्ण अवस्थामें हुआ है । ब्रह्मकी प्रेरणासे जब इच्छाने अपरब्रह्मद्वारा रचेगए स्थूल शरीरोंके रूपको धारण किया, तब उसका अन्तर्यामी और प्राज्ञ तथा सूत्रात्मा एवं तैजसकेद्वारा विशेष या मिश्रित नाम वैश्वानर और विश्वनामहुआ है । सच्चिदानन्दब्रह्मका ऐसा भोक्ता कर्ता और कर्म करताहुआ रूप जाग्रत अवस्थामें होगया । इसप्रकार जगत्, सच्चिदानन्दब्रह्मकाही विवर्त या विशेष वर्तना कहलाता है ।

तात्पर्य यह है कि बृहदा० अध्याय २ तीसरे ब्राह्मणकी “ द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे ” इत्यादि श्रुतियोंसे ऐसा समझना चाहिए कि एकपाद विशुद्धसच्चिदानन्दब्रह्मके, ब्रह्म अन्तर्यामी अपरब्रह्म और वैश्वानर ये चारोंपाद सूर्य देवता विषयकहोनेसे अधिदैव कहेजातेहैं । क्योंकि ब्रह्मका देवताओंमें सबसे उत्तम तथा बड़ा आदित्य रूपही है । उसी ब्रह्मके आत्मा प्राज्ञ तैजस और विश्व ये चारोंपाद, मनुष्यशरीर विषयकहोनेसे अध्यात्म

कहलाते हैं। क्योंकि ब्रह्मका अध्यात्माओंमें, कर्मयोनिहोनेसे सब-से उत्तम मनुष्य शरीरही है। इन चारोंपादोंमें तीन तीन पाद विवर्त हैं और चौथा ब्रह्मात्मा इनमें अनुगत या व्यापक है। या यूँ कहो कि ब्रह्मसच्चिदानन्दही नामरूपात्मक जगत्का अभिन्न निमित्तोपादानकारण है। इस प्रपंचमें, सत्यज्ञानानन्दकी माया या इच्छाने तो अपने पूर्वरूपका त्याग न करते हुए प्रत्येक वस्तुके नामरूपका स्वरूप ग्रहण किया है। वस्तु है तथा भासती है और प्रिय है, इस रीतिसे प्रत्येक वस्तुके साथ ब्रह्मका सच्चिदानन्द या अस्ति भाति प्रिय रूप अनुगत या लगा हुआ है। एक वस्तु यदि एक व्यक्तिको प्रिय नहीं है तो वही वस्तु दूसरे व्यक्तिको अवश्यही प्यारी है। अतः वह प्रियरूपही है।

“बहुस्यां” बहुत हो जाऊँ। “तदात्मानं स्वयं कुरुत” उसने स्वयंही अपने आपको जगत्के रूपमें बना लिया। इन श्रुतिओंके अनुसार, सत्यात्माब्रह्मकी कीहुई बहुभवन प्रतिज्ञा सत्य या सफल होगई। इसके विपरीत क्रमसे सत्यात्माब्रह्मके विवर्तकी समाप्ति समझ-लेनी चाहिए। वह इसप्रकार है—जिस समय हमारी वृत्ति अपने शरीरकी या किसी दूसरी वस्तुकी बनावट पर ध्यान देती है, तब यह सच्चिदानन्द ब्रह्मात्मापर अन्नमय नामका कोश या, पढ़दा है, यह पाँचवाँ पढ़दा है, इसीकेद्वारा ब्रह्मात्माका वैश्वानर और विश्वनाम होता है। जब हमारी वृत्ति किसी स्थूल कार्यको

करती हुई उसमें अंधाधुंध लगी हुई है, तब यह ब्रह्मात्मापर प्राणमय नामका कोश या आवरण है, यह चौथा कोश है । जब हमारी वृत्ति किसी कार्यको निश्चय न करनेसे उसमें संकल्प और विकल्प करती है, तब यह आनन्दब्रह्मात्मापर मनोमय नामका कोश या ढकना है, यह तीसरा कोश है । जब हमारी वृत्ति किसी कार्यको निश्चित करलेती है, तब यह ब्रह्मात्मापर विज्ञानमय नामका कोश या आवरण है, यह दूसरा कोश है, यह ब्रह्मात्माकी कर्ता अवस्था है । इसीकेद्वारा ब्रह्मात्माका नाम अपरब्रह्म और तैजस होता है । जब हमारी वृत्ति किसी अनुकूल वस्तुके दर्शन प्राप्ति या उसके भोगसे एकाग्र होगई है, या सुषुप्तिकी आदि या महाप्रलयकी आदि अवस्थामें या सविकल्प समाधिमें या ब्रह्मलोकमें जाकर क्रममुक्तिमें प्राप्त हुए अपरब्रह्मके समान सत्यसंकल्प आदि ऐश्वर्यके सुखभोगमें एकाग्र होती है, तब यह ब्रह्मात्मापर, माया अविद्या कारण या बीजरूपी आनन्दमय नामका कोश या आवरण है, यह पहिला कोश है, यही ब्रह्मात्माकी कारणरूप और भोक्तरूप अवस्था है, इसीकेद्वारा सदात्मा ब्रह्मका नाम अन्तर्यामी और प्राज्ञ है । जब हमारी वृत्ति, सुषुप्तिकी मध्य या महाप्रलयकी मध्य अवस्थामें या निर्विकल्प समाधिमें या विदेहकेवल्यमुक्तिमें लीन होजाती है या होजाएगी, तब यह सच्चिदानन्द ब्रह्मात्माकी मायातीत अविद्यातीत कारणातीत गुणातीत और कोशातीत रूप तुरीय अवस्था है, इसमें सत्यात्माब्रह्मकी कारणता

या बीजरूपताके समाप्त होजानेसे उसमें अन्तर्यामी ईश्वरता और प्राज्ञ ईश्वरताके समाप्त होजानेपर, सत्यज्ञानानन्दब्रह्मात्माका, निर्गुण निराकार और शुद्ध ब्रह्मनाम होगयाहै, इस अवस्थामें सच्चिदानन्दब्रह्मात्माका सम्पूर्ण विवर्त समाप्त होजाताहै ।

विशेष विचार—

जोलोग, विश्वनामी जीवोंका समुदाय वैश्वानरहै, और तैजसोंकी समष्टि सूत्रात्माहै एवं प्राज्ञोंकी समष्टिका नाम ईश्वरान्तर्यामीहै ऐसा ईश्वरकारूप बतारहेहैं—उनका यह कथन इस कहावतके समानहै—जैसे कोई कहेकि एक मूर्ख मूर्खहै और मूर्खोंका समूह पण्डितहै, किन्तु यह असंभवहै । क्योंकि सबके सब मूर्ख ही तो हैं, ऐसेही उक्त पक्षमेंभी सब मलिनसत्त्वगुणप्रधान अविद्यावाले जीवहीहैं किन्तु इनमें शुद्धसत्त्वगुणप्रधानमायायुक्त कोईभी एक उपास्य तथा फलप्रदाता ईश्वर सिद्ध नहीं होता । औरजोलोग, ब्रह्ममें सृष्टिका अध्यारोप, अपवादकेलिये है ऐसा मानतेहैं, अर्थात् उपनिषदोंमें जो अनेक प्रकारसे सृष्टिकी उत्पत्तिकी वर्णनहै, वह अध्यारोप नाम केवल कल्पनामात्रहै, और वह अपवादकेलिए या निषेधकेलियेहै । वास्तवमें ब्रह्मसे सृष्टिकी उत्पत्ति हुई नहींहै, ऐसा मानतेहैं—इस पक्षमेंभी सृष्टि स्वरूप—सेही अनादि सिद्ध होतीहै, प्रवाहरूपसे नहीं । क्योंकि यह प्रवाहरूपसे तबही अनादि बनसकतीहै, जबकि इसकी उत्पत्ति और

प्रलयको मानलियाजाए । जैन आदि अन्य कई मतभी सृष्टिको स्वरूपसे अनादिमानतेहैं । इसीलिये उनके मतमें सृष्टिकर्ता कोई ईश्वर नहींहै । सृष्टिकी उत्पत्ति न माननेसे उक्त पक्षभी इस अंशमें जैन आदि मतोंके समानही होजाताहै । और जोलोग, छान्दोग्य की “सदेव” श्रुतिके सत् इस पदसे तथा तैत्तरीयकी “सोअकामयत” श्रुतिके स, इस पदसे एवं ऐतरेयकी ‘आत्मा वा०” श्रुतिके आत्मा, इस पदसे शुद्धसत्त्वगुणप्रधानमायाविशिष्ट सर्वज्ञ आदि गुणोंवाले व्यापकब्रह्मको ग्रहणकरके उसको जगत्की उत्पत्तिका अभिन्न निमित्तोपादान कारण बता रहेहैं, उनके मतमें ये दोष अनिवार्य प्राप्त हो रहेहैं । १—यदि व्यापक ब्रह्म, शुद्ध-सत्त्वगुणप्रधानमायाको अपनेलिये रखकर और मलिनसत्त्वगुण आदि गुणोंकेद्वारा अन्य जीवोंका कारण बनकर उनकी उत्पत्तिकरके उन जीवोंमें अपने सर्वज्ञ आदि गुणोंके सहित स्थिति पागहा-है, तब प्रत्येक शरीरकी उपाधिके भेदसे जीवभेदके भ्रमान जितनेभी जीवहैं, उतने ब्रह्मभी भिन्न भिन्नही मानने पड़ेंगे, अर्थात् ब्रह्मभी असंख्यही मानने पड़ेंगे, सबमें एकही ब्रह्म नहीं बनसकेगा ।

२—उसे व्यापक माननेसे अपरब्रह्मका लोकविशेष ब्रह्मलोकभी सिद्ध नहीं होसकेगा तथा श्रुतियों और ब्रह्मसूत्रके सूत्रोंसे सिद्ध हुई क्रमशुक्ति भी नहीं बनपड़ेगी ।

३—यदि उसको लोकविशेष ब्रह्मलोकमेंभी अपरब्रह्मके रूपमें

मानलोगे तब शुद्धसत्त्वगुणकाभी भेद करना होगा, एक अतिशुद्ध सत्त्वगुणप्रधानहोनेसे बड़ा ब्रह्म और दूसरा केवल शुद्धसत्त्वगुणप्रधानहोनेसे छोटा ब्रह्म, ऐसा मानतेहुए ब्रह्मको दो रूपोंमें खंडित करना होगा अर्थात् उसके दैश्वानर और सूत्रात्मा या अपरब्रह्म इनदोनों पादोंको आदित्यस्थानी ब्रह्मलोकमें एकदेशी बनातेहुए अन्तर्यामी और ब्रह्मनामके दोनों पादोंको सर्वव्यापक कहतेहुए सबज्ञ ब्रह्मको दो भागोंमें बांटना होगा ।

४—ब्रह्मका, जीवोंमें अन्तर्यामीरूपसे निवासहोनेपर अपने अत्यन्त संनिहितहोनेसे जीवको मुक्तिमें ब्रह्मकीही समीपता प्राप्त करनीहोगी किन्तु श्रुतियों शास्त्रोंसे सिद्ध हुई स्वस्वरूपावस्थिति कैवल्यमुक्ति नहीं प्राप्तहोगी ।

५—बृहदा. अ० ३ ब्राह्मण ७ श्रुति ८ नान्योऽतोस्ति द्रष्टा नान्योऽतोस्ति श्रोता नान्योऽतोस्ति मंता नान्योऽतोस्ति विज्ञातैष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽन्यदार्तम् ।

आत्मासे भिन्न कोई द्रष्टा या देखनेवाला नहीं, आत्मासे भिन्न कोई सुननेवाला नहींहै, आत्मासे अलग कोई मननकरनेवाला नहींहै आत्मासे भिन्न कोई जाननेवाला नहींहै, यही तेरा आत्मा या अपना स्वरूप अन्तर्यामीहै, इससे भिन्न सब विनाशीहै । यह श्रुतियोंका अर्थहै । इन श्रुतियोंने एक शरीरमें एकही द्रष्टा श्रोता मंता विज्ञाता और अन्तर्यामी मानाहै । इन श्रुतियोंके

विपरीत, शरीरमें जीव और सर्वज्ञ ब्रह्म दोनोंको मानलेनेसे पांचवां दोष श्रुतियोंसे विरोधरूप होजाएगा। तात्पर्य यह है कि इन लोगोंके मतमें, शुद्धसत्त्वगुणप्रधान सर्वज्ञ व्यापक ब्रह्मको जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण माननेसे उक्त ये पांचों अच्छेय दोष प्राप्त होगए हैं।

अब और लीजिए। एक भद्रपुरुषने अपनी पुस्तकमें, सर्वव्यापक सर्वज्ञ आदि गुणोंवाले ब्रह्मको जगत्की उत्पत्तिका केवल निमित्तकारण माना है। इसमें अब प्रश्न यह होता है कि वह जीवोंके भीतरही सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामीरूपसे विराजमान है, अथवा बाहरभी है। १—यदि वह जीवोंके भीतर वर्तमान है तबतो प्रत्येक शरीरकी उपाधिके भेदसे, जीवभेदके समान जितने भी जीव हैं उतनेही ब्रह्मभी मानने पड़ेंगे। अर्थात् ब्रह्मभी असंख्यही मानने होवेंगे। सबमें एकब्रह्म नहीं बनसकेगा। २—यदि वह बाहरभी सर्वत्र व्यापक है। तब उसे मल मूत्र और जूते आदि अपावित्र स्थानोंमेंभी बैठाना होगा, यदि ऐसा स्वीकार है। तो शोक है ऐसी बुद्धपर, जोकि अपने परमश्रद्धेय उपास्य और प्राप्य पूज्य ब्रह्मको ऐसे निकृष्ट स्थानोंमेंभी व्यापक बतारही है। ३—किसीभी केवल निमित्तकारणका कार्यमें प्रवेश नहीं होता है। जैसाकि कुम्भारका घटमें और तंतुवाय नाम जुलाहेका पटमें प्रवेश नहीं है। इसीप्रकार सर्वज्ञ ब्रह्मकोभी देशविशेष स्थायी परिच्छिन्नही मानना पड़ेगा। देखोजी, इस वाक्यसे पाठकोंको

सावधान करना है, पुस्तकमें जहांतहांपर इसके लिखनेका और कुछ प्रयोजन नहीं है। देखोजी, उसने इसप्रकार अपने ग्रन्थमें, कठ० प्रश्न आदि उपनिषदोंसे एवं वेदान्तदर्शन अर्थात् ब्रह्मसूत्रके सूत्रोंसे सिद्धहुए अपरब्रह्मको न मानतेहुए तथा उन्हीं ग्रंथोंद्वारा सिद्ध हुए अपरब्रह्मके लोकविशेष ब्रह्मलोकको न मानतेहुए और योगदर्शनके द्वारा सिद्धहुए पुरुष विशेष ईश्वरको राजाके समान न मानतेहुए इन सबके विपरीत, उसको स्वरूपसे व्यापक बतातेहुए वास्तवमेंही उसका और उसकी उपासनाको खंडित करदिया है।

देखोजी, आपने जिस उद्देश्यको लक्ष्य रखकर हिन्दु जातिको एकसूत्रमें पिरोना चाहाथा और जिस एक ईश्वरकी उपासना कराने केलिए अन्यान्य सभी देवी देवताओंका खण्डन किया, फिर आपनेही उस अपरब्रह्म या पुरुषविशेष ईश्वरको उसे व्यापक बतातेहुए वास्तवमेंही उसे खण्डित करदिया। इसीसे उसका अनन्यभक्तभी यह कहताहै कि ईश्वर, सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापकहै। परन्तु यह कथन उपनिषदों ब्रह्मसूत्र तथा योगदर्शन और अपने अनुभवके विपरीतहोनेसे अन्धविश्वास पूर्वक-ही है। देखोजी, किसीने कहाकि वह वस्तु बाजारमें सर्वत्र प्राप्त है, परन्तु वह मिलती नहीं किसी एकभी दुकानपर, ऐसीही उसके मतकीभी ईश्वरकी व्यापकताके विषयमें बात है। क्योंकि न तो अपने अन्दरमेंही अन्य किसी दूसरे सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान ईश्वरका

अनुभव हो रहा है, और नहीं अन्य किसी मनुष्य पशु पक्षी आदि तथा मलमूत्र आदि अपवित्र वस्तुओंमेंही सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान ईश्वरकी भावना बन सकती है। इसप्रकार इस मतके द्वाराभी प्रतिशरीरमें जीवके समान अलग २ असंख्य ईश्वर बनाकर वास्तवमेंही उसे खड़ा कर दिया जा रहा है। इसी भूलके द्वारा जनताको ईश्वरको उपासनासे वंचित किया जा रहा है। इसीलिए जनता आज, अपनेसे भिन्न जिस वस्तुमें अधिक गुणोंको देखती है, उसेही ईश्वर मानने लगती है। क्योंकि उसके यहां पुरुष विशेष ईश्वर नहीं है। अतः उसको इस महती भूलका सुधार करनेके लिए अपनाही कर्तव्य समझकर अविलम्ब प्रयत्नशील हो जाना चाहिए।

परन्तु मेरे पक्षमें ऐसा कोई दोष नहीं है। क्योंकि मैंने तो पूर्वमें ऐसा लिखा है कि सत्त्व आदि तीनों गुणोंके युक्त एकपाद सच्चिदानन्दब्रह्म, अपने समस्त प्राज्ञोंके रूपद्वारा जगत्का अभिन्न-निमित्तोपादन कारण है। अतः उसका कार्य जगत्भी त्रिगुणात्मक ही है। शुद्धसत्त्वगुण प्रधान सर्वज्ञ आदिगुणोंसे संपन्न आदित्यनिवासी उपास्य और प्राप्य अपरब्रह्म, अपने कार्यको स्वतंत्ररूपसे कर रहा है। मलिनसत्त्वगुण आदि वाले तथा अल्पज्ञ आदि गुणोंवाले जीव, अपना २ कार्य करनेमें स्वतंत्र हैं। परन्तु वास्तवमें यह सब प्रपञ्च अद्वैत ब्रह्म है। अस्तु, यह बात भली भांति समझ लेनी चाहिये कि उपनिषदोंमें जहांपर, ब्रह्म या ईश्वरको

व्यापक बताया गया है। जैसा कि “ईशावास्यमिदं सर्वं” यह सब जगत् ईश्वरसे व्याप्त है, वहांपर ईश्वर या ब्रह्म शब्दको सामान्य सच्चिदानन्दका बोधक जानना चाहिये जो कि वास्तवमें अपना ही स्वरूप है। और जहांपर ईश्वर या ब्रह्मको सर्वज्ञ सर्व-शक्तिमत्ता आदि धर्मोंके सहित बताया है—वहांपर ब्रह्म या ईश्वर शब्दसे आदित्यस्थानी उपास्य ब्रह्म ईश्वरको ग्रहण करना चाहिये। तब ही आप उपनिषदोंके ब्रह्म या ईश्वरको समझ सकेंगे। अन्यथा उलझनमें पड़ जाओगे।

सगुण ब्रह्म—

मुण्डक उपनिषद् मुण्डक २ खण्ड १ मंत्र ४

अग्निमूर्धा चक्षुसी चन्द्रसूर्यो दिशः श्रोत्रे वाग्वि-
वृताश्च वेदाः । वायु प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्-
भ्यां पृथिवी एष सर्वभूतान्तरात्मा ॥ इस सत्य-
ज्ञानानन्दका अग्नि या धुलोक मस्तक है, चन्द्रमा और सूर्य
दोनों नेत्र हैं, सब दिशाएं कान हैं, और प्रकट वेदरूपी वाणी है,
तथा वायु प्राण है और समस्त जगत् हृदय है एवं पृथिवी पैर हैं,
यही सब प्राणियोंका अन्तर आत्मा है, अर्थात् स्वस्वरूप है।
इसी सगुणब्रह्मके विषयमें यजुर्वेद और ऋग्वेदके पुरुषसूक्तमें
ऐसा कहा है—सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्-
पुरुष या सच्चिदानन्दब्रह्म, सहस्र नाम असंख्य शिरोवाला है, एवं

सहस्र नाम असंख्य नेत्रोंवाला है तथा सहस्र नाम असंख्य पैरों-वाला है । इस मंत्रके विपरीत होनेसे ईश्वर या जाव नामकी कोई-भी एक व्यक्ति सगुणब्रह्म नहीं कही जा सकती । क्योंकि अपरब्रह्म अन्तर्यामी आदित्यस्थानी है, और जीवात्मा, मनुष्य आदि स्थानी है । इसीसे सूत्रात्मा ईश्वर, पूरा सगुणब्रह्म नहीं है । इससे यह सिद्ध होगया कि एकपादविशुद्धब्रह्मसच्चिदानन्दही सृष्टिकालमें, सत्त्व आदि तीनगुणोंके सहित या शुद्धसत्त्वगुणप्रधानमाया उपाधिविशिष्ट और मलिनसत्त्व गुणप्रधान अविद्या उपाधि अर्थात् दोनों उपाधियोंके सहित सगुणब्रह्म कहा जाता है । तात्पर्य यह है जैसा कि एकव्यक्ति एकवृक्ष है, बड़े और छोटे वृक्षोंके समूहका नाम वन है । इसीप्रकार बड़े और छोटे असंख्य जीवोंके समुदायका नाम सगुणब्रह्म है ।

निर्गुण शुद्ध सच्चिदानन्द अनन्तब्रह्मको शुद्धभूमिके समान जानना चाहिये । सगुणब्रह्मको, उस शुद्धभूमिमें, वन या बगीचेके तुल्य जान लेना । ईश्वरान्तर्यामी अपरब्रह्मको, उस वनमें बड़े वृक्ष पीपलके सदृश समझना । विष्णुशिव-आदि जितने भी देव देवी हैं और दानव मानव आदि हैं । इन्हें एक दूसरेकी अपेक्षा बड़े छोटे अन्य वृक्षोंके समान समझना चाहिए । इसप्रकार एकपाद सच्चिदानन्द सगुणब्रह्म, वृक्षोंकी समष्टिरूप वनके समान है ।

इसप्रकार वैदिक ब्रह्म विचारमें सगुणब्रह्म नामका दूसरा प्रकरण समाप्त हुआ ।

३—उपास्यब्रह्म

सत्यज्ञानानन्दके चारपादोंमेंसे एकपादका सबसे बड़ा अंश, शुद्धसत्त्वगुणप्रधानमायाशक्तिविशिष्ट आदित्यनिवासी अन्तर्यामी अपरब्रह्महोनेसे आदित्यरूपसे उपास्य या उपासना करनेकेयोग्य ब्रह्महै । एकपाद ब्रह्मके विशेषरूप अपरब्रह्मान्तर्यामी ब्रह्मका विशेषस्थान-तैत्तरीय० में ब्रह्मानन्दवल्लीके आठवें अनुवाकमें श्रुति—
“स एको ब्रह्मण आनन्दः”—वह ब्रह्मका एक आनन्दहै ।

“स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः”—वह जो इस पुरुषमेंहै और जो उस आदित्यमेंहै वह आनन्द दोनोंमें एकहै । तैत्तरीय० भृगुवल्लीके दश अनुवाकमें श्रुति—“स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः”—वह आनन्द जो इस पुरुषमेंहै और जो उस आदित्य या सूर्यमेंहै वह दोनोंमें एकहै ।

छान्दोग्य. के अध्याय १ खंड ६ में श्रुति—“य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्यमयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्य केश आ प्रणखात्सर्व एव सुवर्णः तस्य पुंडरीकमेवमक्षिणी”—जो यह आदित्यके अन्दरमें सुवर्णमय

पुरुष देखाजाताहै सुवर्ण जैसी दाढ़ी मूँछवाला और सुवर्ण जैसे केशोंवालाहै तथा यह नखसेलेकर सब सुवर्ण या सोने जैसा है और उसके नेत्र कमल जैसेहैं । छान्दोग्य० अ० २ खण्ड १ में श्रुति—“असौ वा आदित्यो देवमधु” वह आदित्य देवताओंका मधुहै । तात्पर्य यहकि वे इस मधु सहद या अमृतकेद्वारा जीवन धारणकरतेहैं । बृहदा० अ० २ ब्राह्मण ३ “द्वेवाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त चैवामूर्त च”—ब्रह्मके दो रूपहैं, एक मूर्त दूसरा अमूर्तहै । इसके आगे श्रुतिने तेज जल और पृथिवी इनको मूर्त बतलायाहै तथा आकाश और वायुको अमूर्त बतलायाहै । मूर्तका सार “य एष तपति—जो यह तपने वाला सूर्यमण्डलहै और अमूर्तका सार “य एष एतस्मिन् मंडले पुरुषः—जो इस मंडलमें पुरुषहै । यह देवतामें ब्रह्मका रूप कहाहै । अब अध्यात्म कहाजाताहै । मूर्तका सारभूत, पुरुषका दाहिना नेत्रहै और अमूर्तका सार दाहिने नेत्रमें पुरुषहै । यह श्रुतियोंका अर्थहै । इसप्रकार ब्रह्मका सर्वसाधारण जीवोंमें मनुष्यरूप- कर्मयोनिहोनेसे सबसे उत्तमहै, तथा ब्रह्मकाही उच्चकोटिके प्राणी देवताओंमें सर्वश्रेष्ठ और सबसे बड़ा सविता या सूर्यरूपहै । इस रीतिसे पूर्वोक्त उपनिषद् वाक्योंसे यह सिद्ध होगया कि सत्यज्ञानानन्दब्रह्मके विशेषरूप अन्तर्यामी अपरब्रह्मका, कारण और सूक्ष्मशरीरकी अपेक्षा, स्थूलरूप या स्थान,

आदित्य सविता या सूर्यही हैं। यही शुद्धसत्त्वगुणप्रधानमायापति ब्रह्मका शरीर है।

आदित्य ब्रह्म सच्चिदानन्दके परब्रह्म आदिनाम—

परब्रह्म—हे आदित्य, महाप्रलयकी मध्य अवस्थामें जब आप इच्छा रहित थे तब आपका नाम परब्रह्म या निरपेक्षब्रह्म था, ऐसे परब्रह्म आदित्यदेव, आपको हमारा नमस्कार है।

सर्वेश्वर अन्तर्यामी—हे आदित्यदेव, महाप्रलयकी अन्तिम अवस्थामें, जब आपने शुद्धसात्त्विकीमाया या इच्छाको स्वीकार किया तब आपका ही नाम सर्वेश्वर अन्तर्यामी होगया। जिससे कि आप शुद्धसात्त्विकीमायाके प्रेरक हैं और प्रार्थना करनेपर सर्व प्राणियोंकी बुद्धियोंके प्रेरक हैं, तथा आप मायाके आधीन नहीं हो, अतः हे सर्वेश्वर अन्तर्यामी आदित्यदेव, आपको हम लोगोंका प्रणाम है।

कारणब्रह्म—हे आदित्यदेव, आपका कारणब्रह्म नाम इसलिये तो पड़ा है कि आप सृष्टिकी हेतुरूपा इच्छाको हिरण्यगर्भरूप धारण करनेके लिए प्रेरणा करते हो और अपने स्वरूप भूत, हिरण्यगर्भ सूत्रात्मा या अपरब्रह्मके द्वारा आकाश आदि पांच स्थूल-भूतोंकी उत्पत्ति करते हो एवं ज्ञानरूपसे सर्वव्यापक हो, इसलिये आप कारण ब्रह्म हैं। हे आदित्य, आप प्राज्ञविशेष या पुरुष-विशेष ईश्वर इसलिये हैं कि इस अवस्थामें सभी विशेषज्ञान आपमें घनीभूत हो रहे हैं तथा आप शुद्धसत्त्वमयी इच्छावाले हो

और सर्वज्ञ आदि गुणोंकेद्वारा सर्वव्यापकहो—यही आपमें अन्य सभी जीवनामधारी पुरुषोंसे पुरुषविशेषताहै, अतः हे कारण-ब्रह्म प्राज्ञविशेष या पुरुषविशेष आदित्यदेव, आपको हमलोग, वन्दनाकरतेहैं।

सूत्रात्मा—हे आदित्यदेव, आपका हिरण्यगर्भ या सुवर्ण जैसा शरीरहै, इसमें सभी विशेषज्ञान प्रकाश पागएहैं या चमक उठेहैं। अहोजी, इसकी तो वेदोंमें महती महिमा वर्णन कीगईहै। जैसा-कि मंत्रहै—हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ हिरण्यगर्भही सबसे पहिले प्रकटहुए वह समस्त प्राणियोंके एकही पतिथे, और अबभीहैं। उन्होंनेही पृथिवी और द्युलोक अर्थात् त्रिलोकीको धारण कर-रखाहै, उन्हीं एकदेवताकी हम, हवि आदिकेद्वारा पूजाकरतेहैं। आप इसी शरीर या रूपकेद्वारा सूत्रात्मा कहलातेहो। कारणकि आपके ज्ञानमें समस्तविश्व, धागेमें मणियोंके समान पिरोया हुआहै। आपके इसी रूपका तो अभिमान लेकर श्रीकृष्णजीने भगवद्गीतामें कहाहैकि—“मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव”—हे अर्जुन, मेरेमें यह सब संसार, धामेमें मणियोंके समान पिरोयाहुआहै। अतः हे सर्वश्रेष्ठ सूत्रात्मा अपरब्रह्म आदित्यदेव, आपको हम श्रद्धा भक्तिकेसाथ नमस्कार-

करते हैं ।

वैश्वानर—हे आदित्यदेव, आप सूक्ष्मतमसे सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतरसे सूक्ष्महोकर आप अब बहुत बड़े रूपमें आगए । आप तो उपनिषदोंके पूर्वोक्त श्रुतिवाक्योंके अनुसार, आदित्य सविता या सूर्यरूपमें प्रकट होगए हैं । अहो, आपका यह कैसा तेजोमय रूप है—जिसकी समतामें ऐसा आज तक कोई और रूप न तो हुआ ही है और न आगेको होगा ही । हे भगवन्, आपने अपने लिए यह कैसा चमचमाता हुआ सर्वश्रेष्ठ शरीर बनाया है और हमारे लिये, रक्त मांस आदि के कुत्सित शरीर । आपमें यह पक्षपात कैसा और क्यों है । इस प्रश्नका उत्तर आगया है । ये हैं हमारे शुभाशुभ कर्मोंके परिणाम स्वरूप निकृष्ट शरीर, 'अतः आपमें पक्षपात नहीं है । ऐसे तो आपका यह आदित्य या सविता शरीर है, तो भी आप इसीके द्वारा पूजित होते हैं' इसके बिना तो आप इन्द्रिय अगोचर होनेसे प्रायः अदृश्य ही रहते हैं, भला फिर आपकी कोई पूजा कैसे करने पाएगा । अहोजी, आप ही क्यों, हमारी पूजा करनेवाले लोग भी तो हमारे इन स्थूल शरीरोंके द्वारा ही हमारी पूजा करते हैं, नहीं तो हम भी पूजा करनेवाले और करानेवाले दोनों ही अदृश्य ही हैं । इसलिए हम आपके इस आदित्यरूपको ही अपना इष्टदेव मानेंगे और पूजा करेंगे ।

ऐसे तो आप "य एषोऽन्तरादित्ये"—इस पूर्वोक्त श्रुतिके अनुसार,

आदित्य मंडलके अन्तर्गत स्वर्णस्तम्भ तुल्य हिरण्यमय पुरुष योगियोंद्वारा देखेजातेहो और स्वर्ण समान तेजस्वी दाढ़ी मूँछ एवं केशसे युक्तहो तथा नखसेलेकर शिरःपर्यन्त सुवर्णके तुल्य भास्वर दिव्यक्रान्तिमानहो, तो भी आप सर्वसाधारणकेलिए आदृश्यही हो, अतः आपका सूर्यरूपही सर्वोत्तमरूपहै । ऐसेतो आपभी सन्निदानन्दहैं और हम भी साञ्चदानन्दहीहैं, तोभी आप शुद्धसत्त्वमय आदित्यस्थानीहोनेसे स्वामीहैं, और मलिनसात्विकी इच्छावाले एवं रक्त मांसके इन पिंडोंमें रहनेवाले हम आपके सेवकहैं । कहोजी, राजाभी तो एक मनुष्यहीहै और उसका द्वारपालभी मनुष्यही तोहै, तोभी राजा राजाहीहै और उसकी द्वारपाल आदि प्रजा प्रजा हीहै, किंतु वह राजा तो नहींहै । जिससेकि आप हमारे जाग्रत् अवस्थावाले विश्वनामके सभी नगोंके नेत्रोंको प्रकाश देरहेहैं, इसीसे आप वैश्वानर कहेजातेहैं । अतः हे वैश्वानर आदित्यदेव, आपको हमारा सविनय नमस्कारहै ।

सर्वज्ञ—हे आदित्यदेव, एक तो आप शुद्धसत्त्वगुणप्रधान इच्छावाले फिर आप विराजमानहुए प्रचंड प्रकाशमय तेजोमंडल आदित्यकेरूपमें, तबफिर आपकी सर्वज्ञताका ठिकानाही क्याहै । इसमें तो यदि कीड़ीकोभी बैठाया जाय तो वहभी सर्वज्ञा होसकतीहै तबफिर आपके विषयमें तो कहना ही क्याहै । इसीसे पतंजलीजीने, योगदर्शन समाधिपाद सूत्र २५ तत्र

निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् । इसमें कहा है कि ईश्वरमें सर्वज्ञताका बीज निरतिशय या निरपेक्ष होता है । सातिशय वस्तु वह होती है जो किसीकी अपेक्षा छोटी है । निरतिशय वस्तु वह है जो सबसे बड़ी है । किसी मनुष्य को, अतीन्द्रिय पदार्थका थोड़ासा ज्ञान हुआ उसऋषीका जो वह ज्ञान है वह सर्वज्ञताका बीज होगया । अन्य किसीको उससेभी अधिक अतीन्द्रिय वस्तुका ज्ञान हुआ- अब पहिलेका जो ज्ञान है वह सातिशय होगया । तीसरे को उससेभी अधिक ज्ञान हुआ अब दूसरेका ज्ञान भी सातिशय या सापेक्ष होगया । इसप्रकारके सातिशय ज्ञानकी कहीं सीमा होनी चाहिये । जहां इस ज्ञानकी सीमा है अर्थात् पूर्ण सर्वज्ञता है वही ईश्वर है । यह सर्वज्ञताका बीज जो मनुष्यमें या देवतामें सातिशय है वह परमात्मामें जाकर निरतिशय या निरपेक्ष होता है । जिससेकि आपही निरतिशयज्ञानसे सम्पन्न हैं । इसीसे आप सर्वज्ञ कहहेजाते हैं, अतः हे सर्वज्ञ आदित्यदेव, आपको हमारा नमस्कार है ।

ॐ-हे आदित्यदेव, आपके इस ॐ नामकी महिमा तो वेदों शास्त्रों स्मृतियों पुराणों इतिहासों तथा मतमतान्तरोंमें प्रसिद्ध ही है-तबफिर आपके इस ॐ नामकी अधिक प्रशंसा करनी ही क्या है । जिससेकि आप सबकी रक्षा करनेवाले हैं-इसीसे आपका सर्वश्रेष्ठ नाम ओं है, अतः हे ओंकाररूप आदित्यदेव, आपको हमारा सनम नमस्कार है ।

आदित्य- सवितः, आपके इस रूपको खंडन करनेवाला आजतक जन्माही कौनहै और न आगेकेलिए जन्मेगाही- जो आपके इस आदित्यरूपका खंडन करसकेगा । जिससेकि आप किसीसेभी खंडित नहींहैं-इसीसे आप आदित्य इस नामसे कहेजातेहैं । अहोजी, आपका यह आदित्यवार या ऐतवार या संडे दिन समस्त संसार व्यापीहै । केवल भाषाकाही भेदहै अर्थतो एकहीहै । यह तो आपके प्रकट होनेका सबसे प्रथम दिवसहै-इसीसे प्रत्येक ऐतवारको आपके सत्कारार्थ संपूर्ण संसारकेप्राणी अवकाश या छुट्टी करते हैं । ईसाई लोग, गिरजाघरोंमें आपकी प्रार्थना करतेहैं । प्रातः सायं दोनों समय पलटनोंमें विगल बजाकर आपको प्रणाम करते हैं । अतः इस दिन सबकोही अवकाश देना चाहिये । और कई आपके प्रेमी लोग, इस दिन व्रतकरके नमकनहीं खातेहैं, वह एकवार केवल मीठाही भोजनकरतेहैं । और कई आपके अनन्यप्रप्रेमीलोग, कई दिनोंतक वर्षाकी झड़ी लगजानेकेकारण, बिना आपके दर्शनकिए भोजन नहीं करतेहैं आपके प्रकट होनेकी दिशाका पूर्वदिशा या सबसे पहिली दिशा नाम पड़ा है-इसीसे बहुतसे समझदार लोग, इस दिशाकी ओर पीठकर मलत्याग नहीं करतेहैं-और आपके सम्मुख होकर मूत्रत्याग नहीं करतेहैं-वे इससे आपका अपमान करना अनुभव करतेहैं । प्रातः सायं दोनों संध्याओंके समयमें लोग, आपके सम्मुख बैठकर आपकी उपासना करतेहैं ।

इसलिये हे सर्वसमान्य आदित्यदेव, आपको हमारा सविनय नमस्कार है ।

भगवान्—अहोजी, हे आदित्यदेव आपके इस नामकी महिमा तो उपनिषदोंमें बहुतही पाईगई है । इनमें प्रत्येक ऋषिने अपने पूज्य पुरुषके लिए, “ हे भगव ” यह शब्द ही संबोधनके रूपमें उच्चारण किया है । जिससे कि केवल आपही समस्त ईश्वरता धर्म यश श्री ज्ञान और विज्ञानवाले हैं—इसीसे हे आदित्यदेव, आप भगवान् हो, अतः आपको हमारा नमस्कार है ।

सविता—हे आदित्यदेव, जिससे कि आप सबकी उत्पत्ति करते हैं इसीसे आपका नाम सविता है, अतः हे वेदोंमें प्रसिद्ध सविता नामवाले आदित्यदेव, आपको हमारा प्रणाम है ।

सूर्य—हे आदित्यदेव, जिससे कि आप, अखिल प्रपंचके नियामक हो—इसीसे आपका नाम सूर्य है, अतः हे सूर्य नामवाले आदित्यदेव, आपको हम बहुधा नमस्कार करते हैं ।

परमदयालु—हे आदित्यदेव, आपसे भिन्न जितनेभी प्राणी दयालु हैं वे सबके सब सापेक्ष दयालु हैं—वे कुछ न कुछ मनमें कामना रखकरही किसीपर दया करते हैं, अतः वे सापेक्ष दयालु हैं । परन्तु आपतो किसीसे दया उधारी न लेकर सबपरही दया करते हैं, अतः आप निरपेक्ष दयालु होनेसे परमदयालु हैं । अतः हे परमदयालु आदित्यदेव, आपको हमारा प्रणाम है ।

न्यायकारी—हे आदित्यदेव, आप सबपरही एकसी दृष्टि रखते हो,

कोई जैसाभी शुभाशुभ कर्म करताहै—उसको वैसाही उस कर्म के अनुरूप सुख या दुःख देकर उस कर्मसे मुक्त करदेतेहो उसमें आपका कुछभी किसीसे पक्षपात नहींहै । परन्तु भक्त या भले मनुष्यका थोड़ासाभी कियाहुआ पुण्य या भला कर्म-उससे आप प्रसन्न होकर भक्तको बहुत बड़ा सुखफल देसकतेहो । अहोजी, आपके यहां कमी किस वस्तुकीहै । आपतो पूर्णकाम आत्मारामहो तबफिर आपके कोशमें न्यूनता क्योंहो, आप कृपणता क्यों करनेलगे । अहोजी, जब एक साधारणमनुष्यभी अपने सभी कर्मचारियोंमेंसे किसी एक नेकनीतिसे काम करने वाले व्यक्ति पर प्रसन्नहोकर उसे अपनी जेबसे इनाम देदेताहै, उसे कोईभी समझदार व्यक्ति पक्षपाती नहीं कहेगा, तबफिर आपतो परमस्वतन्त्रहोनेसे थोड़ेसे कर्मसे जिसको जो चाहो बड़ा सुखफल देसकतेहो । इसमें पक्षपात क्याहै । आपकी न्याय-कारितामें कलंक क्यों लगाया जाए । किसीपर अन्याय करना-ही तो बुराहै । किसीको नीचसे उच्च बनादेना बुरा नहींहै । यदि आपके परमप्रेमी तथा लोकोपकारी सेवकसे अकस्मात् कोई पाप कर्मभी होजाए और वह उस पापकर्मसे भयभीतहोकर पश्चा-ताप करताहुआ तथा आगेको दुष्टकर्म न करनेकी मनमें प्रतिज्ञा करताहुआ आपसे क्षमा याचना करताहै—तो हे विश्वात्मन्, आप उसे क्षमा प्रदानकरतेहैं । अपने भक्तने अपने उस अशुभकर्मसे जिन लोगोंको हानि पहुंचाईहै, आप उनलोगोंको भी अपनी

ओरसे हर्जाना देकर प्रसन्न करसकतेहो । जबकि एक साधारण व्यक्तिभी किसीको हर्जाना देकर अपने आदमीकी रक्षाकरलेता-है-तब फिर अनन्तशक्ति संपन्न भगवान् होकर आपकेलिये असम्भवही क्या है । इसप्रकार आपकी परमदयालुता और न्याय-कारितामें कुछभी विरोध नहींहै । अतः हे परमदयालु तथा न्यायकारी आदित्यदेव, आपको हमारा शतशः प्रणामहो ।

कर्म तथा उपासना

हे आदित्यदेव, मनुष्य अग्निहोत्र आदि कर्मकेद्वारा आपको प्रसन्न करके अपनी कामनाके अनुसार, आपसे धर्मअर्थ काम तथा ज्ञान या इनमेंसे किसी एक फलको प्राप्त करलेताहै । अहोजी, प्रातः-सायं दोनों समयोंकी सन्धिमें होनेवाली यह संध्योपासना आपकी-ही प्रसन्नता संपादनकरनेकेलिए कीजातीहै । जिसके न करनेसे अन्य किसीभी देवताकी पूजाकरनेपर द्विजातिको स्मृतियोंमें पतित बतायागयाहै । यह संध्या आपकेही सम्मुख बैठकर की-जातीहै, इसमें सबही मंत्र वास्तवमें आपकीही स्तुतिकेलिये दिएगएहैं । अतः हे सर्वसंमान्य आदित्यदेव, आपको हमारा श्रद्धापूर्वक नमस्कारहै ।

हे आदित्यदेव, गायत्रीमंत्र, सर्ववेदोंमें स्मृतियों और पुराणोंमें भी उच्च कोटिका मंत्र मानागयाहै—यह सर्वश्रेष्ठमंत्र, यज्ञोप-वीत धारण करनेके समय आचार्यकेद्वारा मनुष्यको द्विजाति

वनानेकेलिए दिया जाता है। इस मंत्रके बिना मनुष्य द्विजाति कहलानेका अधिकारी नहीं है। इस मंत्रके प्रातिपाद्यदेवता आपही हो। आज इस मंत्रको सूते इति सविता—जो उत्पत्तिकरे वह सविता है—ऐसी व्युत्पत्तिको लेकर बहुतसे संप्रदायी लोगोंने, अपने-अपने इष्टदेव पर लगालिया है—वे इस मंत्रके द्वारा अपने २ इष्ट-देवको सविता मानकर उसे अपना अग्रध्यदेव मान रहे हैं। यह तो अपनी श्रद्धापर निर्भर है इस मंत्रको जहांपर चाहो गुरु आदि-पर भी लगा सकते हैं। परन्तु ऐसा करना वेदके विपरीत है। क्योंकि यजुर्वेदने तो सविता नाम सूर्यदेवका ही बताया है। मंत्र है—
 आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
 हिरण्यमयेन सविता देवो रथेनायाति भुवनानि

पश्यन् ॥

आवरणरूप रात्रिके साथ वर्तता हुआ अर्थात् अंधेरेको नष्ट करता हुआ तथा देवताओं और मनुष्योंको अपने २ कर्ममें लगाता हुआ एवं संपूर्ण भुवनोंको देखता हुआ सवितादेव सुवर्णके समान वर्णवाले रथमें बैठकर आता है। जबकि वैदिक मन्त्रोंसे इसप्रकार सवितादेवकी स्तुति सूर्यके रूपमें की गई है—तब फिर गायत्रीमंत्रके द्वारा सूर्यदेवसे भिन्न किसी अन्यदेवका सविता नामसे ग्रहण करना उचित नहीं है।

मनुस्मृति अध्याय २ श्लोक —

पूर्वा संध्यां जपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमर्कदर्शनात्
 पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृत्न विभावनात् । १०१।
 पूर्वा संध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति ।
 पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवा कृतम् । १०२।
 न तिष्ठति यः पूर्वा नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
 स शूद्रवद्वहिष्कार्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मणः । १०३।
 अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः ।
 सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः । १०४।

प्रातःकालकी संध्यामें सूर्यके दर्शन होनेतक खड़ाहोकर सा-
 वित्री नाम गायत्रीका जपकरे, और सायंकालकी संध्यामें तारे
 दीखनेलगें तबतक बैठकर जपकरना चाहिए ॥१०१॥ प्रातःकाल-
 की संध्यामें जपकरताहुआ मनुष्य, रात्रिके पापको दूरकरदेताहै
 और सायंकाल संध्या करनेसे दिनमें किएहुए पापको नष्टकर-
 देताहै ॥१०२॥ जो मनुष्य, प्रातःकाल संध्योपासना नहीं करताहै
 तथा सायंकाल संध्या और गायत्रीका जप नहीं करताहै उसे द्वि-
 जाति सत्कार, आदि संपूर्ण कर्मसे शूद्रके समान, पांक्तिसे बाहर
 निकालदेना चाहिए ॥१०३॥ (परन्तु इसके विपरीत अवतो गा-
 यत्रीसंध्या करनेवाले व्यक्तिकोहो भक्तमंडलीसे बाहर किया
 जा रहाहै, क्योंकि इन भक्तोंकी संख्या अब अधिकहै । अस्तु)

वनमें जाकर अर्थात् एकान्तमें जाकर समाधानहो, नदी आदि जलके समीपमें जितेन्द्रियहोकर नित्यकर्म विधिमें स्थितहुआ सावित्री अर्थात् गायत्रीका जपकरे ॥१०४॥ इसके आगे नैत्यके इस १०५ श्लोकमें यह बतायागयाहै कि नित्यकर्ममें अनध्याय अर्थात् छुट्टी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यह ब्रह्मयज्ञहै इससे सदाही पुण्य होताहै, और अनध्यायमें तो हवन करनेसेही पुण्य होताहै। मनुके इत्यादि श्लोकोंसे निसन्देह यह सिद्ध होताहै कि गायत्री मन्त्रसे उपास्य सविता या सूर्यदेवही हैं। इसीसे गायत्रीका दूसरानाम सवितासे संबंधहोनेसे सावित्रीनाम पड़ा है। परन्तु आज-दूसरे देवी देवताओं की उपासना होरहीहै-इससे लोग, दोनों संध्याओंमें प्रायः उन्हींका पूजन करने लगेहैं। इसीसे वैदिक संध्या गायत्री आदि कर्म और जपका करना त्यागदिया-है। न जाने एक महापुरुषभी, इन श्लोकोंके तात्पर्य अर्थको क्यों भूल गए। उन्होंने क्यों न विचार किया कि गायत्रीका सावित्री नाम कैसे होगया। इसका यदि सविता या सूर्यदेवताहै तबही तो इसका सावित्री नाम हुआहै अहो, वे बहुत बड़ी भूलकरगए-हैं। उनका अनन्यभक्तभी उनका अनुयायी होताहुआ अब उनके विरुद्ध कैसे और क्यों जाएगा। अस्तु। गायत्री मन्त्र—

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य
धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्—पदार्थ— ॐ=रक्षा

करनेवाला, भूः=सत्तारूप, भुवः=चित्तरूप, स्वः=सुखरूप, तत्=वह, सवितु=उत्पत्तिकरनेवाला, वरेण्यं=चाहनेयोग्य, भर्गः=पापोंका नाशक तेज, देवस्य=प्रकाशस्वरूप, धीमहि=ध्यान-करतेहैं, धियः=बुद्धियोंको, यः=जो नः=हमारी, प्रचोदयात्=प्रेरणा-करे । भावार्थ—हम, उत्पत्तिकरनेवाले, चाहनेयोग्य, स्वयंप्रकाश, रक्षाकरनेवाले, सच्चिदानन्दके उस पापोंके नाशकरनेवाले, तेज-का ध्यानकरतेहैं, वह हमारी बुद्धियोंको शुभकर्ममें प्रेरणा करे । हे आदित्यदेव, यह गायत्रीमंत्र आपकी स्तुतिकेलिए सर्वोत्तम मंत्रहै । इसकी साक्षी भगवान् कृष्णजी गीता अध्याय दशमें “गायत्री छन्दसामहम्” छन्दोंमें गायत्री नामक छन्द मैंहुँ ऐसा कहकर देरहेहैं । मनु आदि स्मृतियोंमें, इस गायत्रीमंत्रका बहुत महत्व प्रतिपादन कियागयाहै । अतः हे सविता आदित्य-देव, इस मंत्रकेद्वारा ‘हम’ आपका सदाही स्मरणकरतेहैं । विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव । यद् भद्रं तन्न आसुव । हे सवितः सूर्यदेव, हमारे समस्त पापोंको दूरकीजिए और जो शुभहै वह हमें प्रदानकीजिए । यह मंत्रभी आपकी प्रार्थनाकेलिए प्रसिद्ध मंत्रहै । अतः इसकेद्वारा हमलोग, आपकी प्रार्थना करतेहैं । इस पुस्तकके मंगलाचरणमें लिखा हुआ श्वेताश्वतर उप० का “यो ब्रह्माणं” यहमंत्र, सुमुचुओंको आपकी स्तुति करनेकेलिए अतिश्रेष्ठ मंत्रहै ।

भयादस्याग्निस्तपति भयान्तपति सूर्यः भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः । यह मंत्र कठ० तैत्तरीय० तथा बृहदा० उप० में भी आया है । इसका अर्थ है कि ब्रह्मकी भयसे अग्नि तपता है, सूर्य तपता है तथा इन्द्र और मृत्यु भी अपना २ काम करते हैं, इस मंत्रसे यह संदेह होता है कि सूर्यसे भिन्न सूर्यको भय देनेवाला परमात्मा, सूर्यसे बहुत दूर कहींपर रहता होगा, परन्तु ऐसा नहीं है और इसको भयभी नहीं है । कारण कि हसलोंगोंके रक्तमांस अस्थियोंसे संचित शरीर, वात कफ और पित्तसे व्याप्त हुए सविकार हैं । और ये किसी वात आदि दोषके कुपित होजानेपर निकम्मे होजाते हैं । तबतो इनको चाहे कितना भी भय दिखलाया जाय फिर भी ये कुछ काम करनेको तैयार नहीं होते । परन्तु हे आदित्यदेव, आपका यह प्रबलप्रचंड तेजोमयकल्याणतमनिर्विकार आदित्यशरीर, किसीभी विकार-वाला नहीं है, अतः यह आपकी आज्ञाको उल्लंघन क्यों करेगा, वह तो जैसाभी आप चाहोगे वैसाही काम करेगा, फिर इसको भय क्यों होवेगा । अतः आपका यह आदित्यशरीर, सदाही निर्भय है और आगे रहेगा । यह श्रुतिवाक्य, केवल स्थान और स्थानीके भेदका द्योतक है । हे आदित्यात्मब्रह्मदेव, उपनिषदोंमें बहुत स्थलोंपर आपकी प्राणरूपसे उपासना करने का विधान है, वह भी श्रेष्ठ है । मनुष्य चाहे उसेही करता रहे । छान्दोग्य० के आठवें अध्यायमें आपकी दहर उपासनाका विधान है, उसके

अनुसार मनुष्य, अपने हृदयदेशमें ब्रह्मरूप आपका ध्यानकरे वहभी आपकीही उपासना या भक्ति होगी, क्योंकि उसकेद्वारा प्राप्यब्रह्म आपहीहैं ।

छान्दोग्य० अ० ४ खंड १ श्रुति १ य एषः आदित्ये पुरुषो दृश्यते सोहमस्मि स एवाहमस्मि— जो यह आदित्यमें हिरण्यश्मश्रु पुरुष योगियोंद्वारा देखाजाताहै, वही मैं हूँ वही मैं हूँ, इस श्रुतिके अनुसार उसे अपनाही स्वरूप समझना चाहिए । देखोजी, भक्तजी, भय मतकरो । “अहंब्रह्मास्मि” मैं ब्रह्महूँ ऐसा कहनेसे अपनेमें पाप आजानेकी आशंका न करो । भगवान् बड़े उदार हैं, वे इस अभेद उपासनासे आपको अपने ब्रह्मलोकमें ले जाएंगे, जबकि भगवान् अपनी वाणीसे तुमें ऐसी अभेद उपासना करनेकेलिए बतारहेहैं—तबतो आप निर्भय-होकर “सोहमस्मि” मैं ब्रह्म हूँ ऐसे रटाकरो । आदित्यात्मदेवकी यह अभेद उपासना बहुतही श्रेष्ठहै ।

हे आदित्यात्म ब्रह्मदेव , ओंकारके—द्वारा आपकी उपासना करनेका वेदों शास्त्रों स्मृतियों पुराणों एवं मतमतान्तरोंमें भी बहुत बड़ा महत्व गान कियागयाहै । आप सबके रक्षकहैं-इसीसे आपका नाम ओं है । इस ओं का नाम प्रणव भी है । “प्रकर्षेण नौति स्तौति इति प्रणवः” सबसे बढ़कर स्तुति करनेवालेका नाम प्रणवहै । इसीसे श्रीगीताजीके अ० दशमें कृष्णजीने

कहा है कि “**प्रणवः सर्ववेदेषु**” समग्र वेदोंमें प्रणव में हैं।
 इसप्रकार ओंके महत्त्वमें श्रीकृष्णजीकी साक्षी है। देखोजी, वरसे
 बिना बरात किसकामकी है। यदि वेदोंमें ओं न होता तो वेदभी किस
 कामके होते। इसीसे तो वेदके प्रत्येक मन्त्रके साथ ओं लगाया
 जाता है। वेदादिमें ओंका सबसे बड़ा महत्त्व अनुभवकरकेही
 पतंजली महाराजने अपने योगदर्शनमें साधकको, शीघ्रतम
 समाधिके लाभार्थ ईश्वरभक्तिके लिए अन्य सभी मंत्रोंको त्याग
 करके केवल प्रणव मन्त्र जपनेके लिए सूत्र दिया है—समाधिपाद
 सूत्र २७ “**तस्य वाचकः प्रणवः**”—उस ईश्वरका वाचक
 या नाम प्रणव अर्थात् ओं है। व्यासभाष्यमें लिखा है कि इस नामके
 साथ परमात्मा का नित्य संबन्ध है अर्थात् सर्ग सर्गान्तरेमें यही
 नाम उसके स्थिर रहता है। सूत्र २८ के द्वारा ईश्वर प्रणिधान
 कहा है ॥ सूत्र है—“**तज्जपस्तदर्थं भावनम्**”— उस
 ओंका जप और उसके अर्थ ईश्वरका चिन्तन करना चाहिए ॥
 इससे शीघ्रतम समाधि प्राप्त होगी, इसप्रकार योगदर्शनमें
 ओंका महत्त्व प्रतिपादन किया गया है। उपनिषदोंमें इसकी
 प्रतीकरूपसे भी उपासना करनेका विधान है कि ओंको ब्रह्मका प्रति-
 निधि मानकर इसमें ब्रह्मभावना करके इस ओंकी उपासना करे,
 जैसा कि तैत्तरीय उप० में “**ओमिति ब्रह्म**” ओं यह ब्रह्म है,
 ऐसी श्रुति है ॥

या फिर मनुष्य, माण्डूक्य उप० के अनुसार ओं अक्षरकी अकार उकार और मकाररूपी तीनमात्राओंके साथ आत्माके विश्व तैजस और प्राज्ञरूप अध्यात्म तीनपादोंको तथा ब्रह्मके वैश्वानर सूत्रात्मा-अपरब्रह्म और सर्वेश्वर-अन्तर्यामीरूप अधिदैव तीनपादोंको मिलाकर ओंकेद्वारा आदित्यात्मब्रह्मदेवरूप आपकी ओंकार-ब्रह्म में हूँ ऐसी अभेद उपासनाकरे। आपकी यह उपासनाभी अतिश्रेयस्करी है।

हे ब्रह्मात्मदेव आदित्य, कोईभी मनुष्य किसीभी भाषामें तथा किसीभी मंत्रसे और किसीभी नामकेद्वारा आपकी भक्ति करेगा-उसे मन चाहा फल मिलजाएगा। परन्तु आपके रूपमें भेद नहीं करना चाहिए। यदि नामोंकी भान्ति आपके रूपमेंभी भेद करेगा- तबतो उसे कुछभी फल नहीं मिलेगा। देखोजी, जल कहो वाटर कहो और आव कहिए एकही तो वात है। ये अनेकों नाम जलकेही हैं। आप यदि नामके साथसाथ उसके रूपकाभी भेद करते जायेंगे तबतो आप लोगोंकी प्यास निवृत्त नहीं होवेगी। क्योंकि रूपका भेद करनेपर आप पागल कहे जाओगे। इसीप्रकार आदित्यात्माके नाम भेदकेद्वारा उसके रूपका भेद नहीं करना चाहिए। ऐसा करनेपर आप फलसे वंचित रह जाओगे। संप्रदायी लोगोंने इस समय अज्ञानतासे आदित्यात्मा-ब्रह्मकी समतामें अनेकोंही रूपों और स्थानोंकी कल्पना करली है। इसीलिए मैं आप लोगोंको सावधान कर रहा हूँ, देखना कहीं

उनके वशीभूत न होजाना ।

परब्रह्म और अपरब्रह्मके विषयमें प्रमाण—

कठ उप० अध्याय १ वल्ली ३ मंत्र १५—१६—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।

एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥१५॥

यही ओं अक्षर अपरब्रह्म है और यही ओं अक्षर परब्रह्म है, इसी ओं अक्षरको जानकर जो इच्छाकरता है—उसे वही प्राप्त—होजाता है । तात्पर्य यह है कि ओं अक्षरही अपरब्रह्मका नाम—है, इसलिए मनुष्य अपने अधिकारके अनुसार इस ओं अक्षर—केद्वारा अपरब्रह्मको प्राप्त करसकता है और परब्रह्मको जान—सकता है । माया सहितका नाम अपरब्रह्म है और माया रहितका नाम परब्रह्म है ।

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।

एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥१६॥

इस ओंका आश्रय करना श्रेष्ठ है, यही आश्रय पर है, इसी आलम्बनको जानकर ब्रह्मलोकमें पूज्य होता है । तात्पर्य यह कि मनुष्यको इस ओंकेद्वारा अपरब्रह्मका आश्रय करना उत्तम है, और इसी ओंकेद्वारा परब्रह्मका आश्रय करना उत्तम है । इस ओंकेद्वारा परब्रह्मको जानकर मुक्त होजाता है, और इसी ओंके द्वारा अपरब्रह्मके ध्यानसे ब्रह्मलोकको प्राप्त करलेता है ।

प्रश्नोपनिषद् प्रश्न ५—“एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च
 ब्रह्म यदोकारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ।
 हे सत्यकाम, यह जो ओंकार है यह परब्रह्म और अपरब्रह्म रूप है
 अर्थात् इन दोनोंका नाम है, इसलिये विद्वान्, इसी ओंकारके
 आलम्बनद्वारा दोनोंमेंसे किसी एकको ग्रहण करता है । इससे
 आगे श्रुति कहती है कि यदि मनुष्य तीव्रमात्राओं रूप ओंकार-
 के द्वारा अपरब्रह्मका ध्यान करता है वह सब पापोंसे रहित हुआ
 सूर्यको प्राप्त होकर ब्रह्मलोकमें पहुँच जाता है । उसके पीछे उस
 जीवोंके घनीभूत परसे अर्थात् अपरब्रह्मसे परब्रह्मको साक्षात्
 करता है, वह परब्रह्म, शान्त अजर अमर और भयसे रहित है ।
 तात्पर्य यह है कि ब्रह्मलोकमें, जीवोंके स्थूलशरीर नहीं जाते । अतः
 वे वहाँ अदृश्य होकर रहते हैं, इसीसे ब्रह्मलोक जीवोंका समूह-
 रूप होनेसे जीवघन कहलाता है । वहाँ महाप्रलय आजानेपर उसके
 स्वामी अपरब्रह्मसे जोकि समस्त प्राणधारियोंकी अपेक्षा उपास्य
 और प्राप्य होनेसे परब्रह्म है—उससे ज्ञान प्राप्त करके सबके सब,
 इच्छारहित शुद्ध स्वस्वरूप सामान्य सच्चिदानन्द निरपेक्ष निर्गुण
 परब्रह्मको प्राप्त होजाते हैं । इसीको उपनिषदोंमें क्रमशः कहा-
 गया है । इसप्रकार उपनिषदोंमें सत्यज्ञानानन्दस्वरूपकी अपरब्रह्म
 और परब्रह्मके नामसे उपासना पाई जाती है, और अपरब्रह्मका,
 ब्रह्मलोकके नामसे लोक पाया जाता है । ऐसेतो परब्रह्मकी भी

अमात्र ओंकारकेद्वारा उपासना करनी कठ प्रश्न और माण्डूक्य आदि उपनिषदोंमें पाईजातीहै, तोभी वह उपासना केवल मुमुक्षु मनुष्योंके लिएहीहै । अपरब्रह्मकी उपासना तो धर्म अर्थ काम और ज्ञानकेद्वारा मोक्षकी देनेवालीहोनेसे सर्वसाधारणकेलिएही इसका उपयोगहै ।

अपौरुषेय अर्थात् किसी पुरुषकेद्वारा रचित न होनेसे वेदहां सनातनहै, अतः इसके और इसके अनुसारी धर्मग्रंथोंके मानने-वाला मनुष्य सनातनधर्मी कहलासकताहै । सनातनधर्मी मनुष्य-ही आर्य होसकताहै । सिंधुनदके निवासीहोनेकेकारण कुछ दिनों-से हमारा नाम हिन्दूभी पड़ गयाहै । इसलिए सनातनधर्मी आर्य-हिंदुलोगोंको, मंत्रवेदों तथा मंत्रब्राह्मणात्मक वेदोंके अनुसार आदित्यब्रह्मकाही प्रातः सायं दोनों संध्याओंमें संध्या तथा गायत्री आदि मंत्रोंकेद्वारा जपकरतेहुए जल पुष्प धूप दीप नैवेद्य-के साथ पूजा स्तुति और ध्यानकरनाचाहिए । अन्य समयमें मानसीपूजा और उसका ध्यान करनाचाहिए । कारणकि सृष्टि-कालमें, शुद्धसत्त्वगुणप्रधानमायासहित आदित्यनिवासी सच्चि-दानन्दही अपरब्रह्महोनेसे आदित्यरूपसे उपास्य या उपासना-करनेकेयोग्यब्रह्महै । जिससे कि ऊपरवाला जानै, इसप्रकारकी परम्परासे चली आई हुई यह लोकोक्तिभी सत्यहीहै, इससेभी आदित्यनिवासी अपरब्रह्मही उपास्यब्रह्महै ।

इसप्रकार वैदिकब्रह्म विचारमें उपास्यब्रह्म नामका तीसरा प्रकरण समाप्तहुआ ।

४ प्राप्यब्रह्म

उपास्यब्रह्मही प्राप्यब्रह्म या प्राप्तकरनेके योग्यब्रह्म है ।

जिस मनुष्यने इसलोक और स्वर्गलोकके भोगोंसे विरक्तहोकर अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि साधनोंसे संपन्नहो, ब्रह्मलोकके सुखोंकी कामनासे अपरब्रह्मकी, उपास्यब्रह्म प्रकरणमें कहीगई रीतिसे अभेद बुद्धिसे उपासनाकीहै—उसको प्राणान्तके समय ईशावास्य उपनिषदके इन मंत्रोंद्वारा सूर्यदेवसे प्रार्थना करनी चाहिए—

हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह ।

तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योसा-

वसौ पुरुषः सोहमस्मि ॥१६॥

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।

ओं क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर ॥१७॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव

वयुनानि विद्वान् ।

युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं

विधेम ॥१८॥

हे जगत्पालक सूर्य, आपके इस हिरण्यमय या सुवर्णके समान देदीप्यमान प्रचंड तेजरूपी पात्रसे सत्यात्माका द्वार ढकाहुंआहै- उस तेजरूप ढकनेको आप हटालीजिए-ऐसा होनेपर मैं उस आराध्यदेव ब्रह्मात्माके दर्शनकरूंगा । ॥१५॥ हे जगत्पोषक आदित्य, हे अकेले चलनेवाले, हे प्रेरक, हे विद्वानोंके लक्ष्यरूप सूर्य, हे प्रजापतिके प्रिय, अपनी किरणोंको एकत्रकरो और प्रचंड तेजको समेटलीजिए आपके अन्दर जो योगियोंद्वारा दीखने-वाला अत्यन्त कल्याणतमरूप पुरुषहै-उसे मैंदेख रहा हूँ और देखूंगा; वही पुरुष परमात्मा मैं हूँ अर्थात् मैं उसकी अभेद बुद्धि-से उपासना करनेवाला हूँ, शुद्ध सत्वगुणप्रधान होकर उसके अत्यन्त समीपमें हूँ, अतः अब उसमें और मेरेमें कुछ भेद नहीं है ॥१६॥ यह मेरा प्राणवायु व्यापकवायुमें मिल जाए और इससे रहितहुआ स्थूलशरीर अग्निमें भस्महोजाए, हे ओंकारा-भिन्नसच्चिदानन्द आदित्यदेव, हे यज्ञमय भगवान्, आप मुझ भक्तको स्मरणकरें और मेरेद्वारा किए गए कर्मोंका स्मरणकरें ॥१७॥ हे सूर्य, जिससेकि आप समस्त पदार्थोंको जाननेवालेहो, अतः हे देव, हमें सर्वश्रेष्ठ उत्तरायणमार्गसे लेचलो, मैं ब्रह्मलोक-में अपनी उपासनाका शुभफल भोगूंगा, और जो कुछ शेष

रहंगयेहों—उन कुटिलपापोंको हमारेसे आप दूरकरदीजिए, हम
 आपकी नमस्कार वचनसे बहुतही परिचर्या या सेवाकरतेहैं ॥१८॥
 छान्दोग्य अध्याय ४ खंड १५ “अथ चैवास्मिन्ध्व्यं
 कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसंभवन्ति” इत्यादि श्रुति-
 योंसे ऐसे उपासककी मृत्यु होजानेपर उसका कोई मृतकर्म करे
 या न करे देखोजी, उसे तो जो कुछ करना चाहिए था वह सब
 अपने आपही करचुकाहै—उसे अब पुत्र आदिकेद्वारा किएहुए
 किसी कर्मकी आवश्यकताही क्या है। अतः उसकेलिए यदि
 कोई पुत्र आदि कर्म करताहै तो उस कर्मसे उसे कुछ लाभ
 नहींहै। उसकेलिए यदि कुछभी कर्म न कियाजाए तो इससे
 उसकी कुछ हानि नहींहै। इसलिए उसके मार्गमें कोईभी कुछ
 रुकावट नहीं करेगा। वह तो सूर्यकी रश्मियोंको प्राप्त होजाएगा,
 वहांसे दिन शुक्लपक्ष उत्तरायण संवत्सर आदित्य चन्द्रमा विज-
 ली और अमानव पुरुषकेद्वारा ब्रह्मलोकमें पहुंच जायेगा।
 यही देवमार्ग और ब्रह्ममार्गहै—इस मार्गसे गयाहुआ उपासक
 इस मनुके संसारमें नहीं आवेगा। यह श्रुतियोंका भावार्थहै।
 तात्पर्य यहहै कि ब्रह्मसूत्रमें चौथे अध्यायके तीसरे प्रादका यह
 सूत्रहै—“अतिबाहकास्तर्हि मात्” ॥४॥ इस सूत्रके अनु-
 सार, अर्चि दिन शुक्लपक्ष और उत्तरायण इत्यादि नामवाले ब्रह्म-
 लोकको लेजावेवाले, ये चेतनदेवताही सिद्धहोतेहैं। इसप्रकार ये

दिन-पक्ष और उत्तरायण नामके काल या समय नहीं हैं और चान्द्र आदि नामवाले लोक भी नहीं हैं, ये तो देवता हैं । इस-लिये दिन रात कृष्णपक्ष शुक्लपक्ष दक्षिणायन और उत्तरायण आदि किसी भी समयमें जब भी उपासक प्राणोंको त्यागेगा ये देवता उसे ब्रह्मलोकमें ले जावेंगे । यदि, दिन आदिके समयमें मरनेसे ही कल्याण है तब तो कसाई भी दिनमें और उत्तरायणमें मरते ही हैं वे भी ब्रह्मलोकमें चले जावेंगे और भक्त जन भी रातको कृष्णपक्ष और दक्षिणायनमें प्राण त्यागते हैं— इससे वे ब्रह्मलोकमें नहीं जाने चाहिए । इसलिए यहाँ कालका ग्रहण नहीं करना चाहिए । क्योंकि ब्रह्मसूत्रमें अ० ४ पाद २ सूत्र २१ योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्ते चैते” इम सूत्रमें कालका खंडन किया है । इसमें कहा है कि गीता स्मृतिके अ० ८ श्लोक २३ में “तं कालं” यह काल वचन योगियोंके विषयमें कहा गया है । अतः यह श्रुतिमूलक नहीं है । इसलिए श्रुतिके विरुद्ध स्मृति प्रमाण नहीं है । इस सूत्रके शांकर भाष्यमें यह कहा है कि यदि गीता भी इनको अतिवाहक चेतनदेवता ही मानती है तो श्रुतिसे गीता स्मृतिका कुछ भी विरोध नहीं है । इसलिए दिन आदिसे काल या समयका ग्रहण नहीं करना चाहिए । अस्तु । ये चेतन देवता उपासकको सत्कार पूर्वक जहाँ तहाँपर सैर कराते-हुए और एक दूसरेके पास पहुँचाते हुए विस्तृत सूर्यमंडल ब्रह्मके

लोकमें पहुंचा देते हैं ।

छान्दोग्य अ० ८ खंड ६ श्रुति ५ “ अथ यत्रैतदस्माच्छरीरात्”
 इत्यादि श्रुतियोंसे जबकि यह उपासक, इस शरीरसे उत्क्रमण
 करता है उसी समय इन सूर्यकी रश्मियों या किरणों द्वारा ही ऊपर-
 को लेजाया जाता है । वह ओं ऐसा उच्चारण करता है । जैसे मन
 क्षण भरमें (वंबई कलकत्तामें) पहुँच जाता है—वह इसी प्रकार
 सूर्यको प्राप्त होजाता है—यह ब्रह्मनोकका सूर्यरूपी द्वार उपा-
 सकोंकेलिये खुला है, ये ही इसमेंसे होकर ब्रह्मको प्राप्त होसकते हैं,
 अज्ञानी कर्मोंकेलिए यह सूर्यद्वार निरुद्ध या बन्द है । हृदयकी
 एकसौ नाड़ियोंमेंसे एक नाड़ी मस्तकको भेदनकरके निकलती है
 उसकेद्वारा ब्रह्मलोकको जाता है, औरोंसे नहीं । यह श्रुतियोंका
 अर्थ है । देखोजी, समझ बूझकर उपासना करनी चाहिए, इस
 सूर्य मार्गसे उच्चसेभी उच्च देवी देवताओंके उपासक नहीं जा-
 सकेंगे, इस मार्गसे तो केवल आदित्यकी ब्रह्मरूपसे उपासना
 करनेवाले लोग ही जासकते हैं । छान्दोग्य० अ० ८ खंड ६ की
 “अय या एता”—इत्यादि श्रुतियोंसे हृदयकी ये पिंगला आदि
 नामवाली नाड़ियाँ सूर्यमें सम्बन्ध रखती हैं, अतः इनकेद्वारा ही
 ब्रह्मलोकमें जाना होता है । ब्रह्मसूत्र अ० ४ पाद २ सूत्र १६
 “निशि नेति चेन्न संबन्धस्य यावद्देहभावित्वादर्श-
 यति च”—इससे जबतक शरीर है तबतक सूर्यकी रश्मियोंका

इससे सम्बन्ध है । अतः उपासक रातमें भी शरीर त्यागने पर स्वयं को किरणों के ही द्वारा ब्रह्मलोक को ले जाया जाता है । “अतश्चायने-
पि दणिणे” — इस २० वें सूत्र के अनुसार दक्षिणायनमें भी प्राणत्यागने पर वह ब्रह्मलोकमें ही जाता है ।

छान्दोग्य० अ० ८ खण्ड ३ “अथ ये चास्येह” — इत्यादि श्रुतियों से ऐसे तो यह इन जीवित जीवों को और मृत्यु को प्राप्त हुए जिन माता पिता आदि लोगों को जाग्रत और स्वप्न अवस्थामें इच्छा करने पर भी नहीं मिल सकता, इन सब को (हृदयाकाशस्थित) ब्रह्मलोक को प्राप्त होकर मिल सकता है । तो भी जैसा कि लोग, गृहमें ही उपस्थित निधिको उसी गृहमें उस निधिके ऊपर भ्रमण करते हुए भी अज्ञानता से उस निधिको प्राप्त नहीं कर सकते — उसी प्रकार ये सभी जीव नित्य प्रति सुषुप्ति अवस्थामें ब्रह्म को प्राप्त होकर भी पुण्य पापरूपी अनृत साथमें होने से ब्रह्म को नहीं जान सकते । इसी अनृत या झूठके द्वारा ये वहां टिक नहीं सकते, वहां से लौट आते हैं । ऐसे तो समाधिके द्वारा भी अपने हृदयाकाशमें ब्रह्मलोक का अनुभव कर सकते हैं, तो भी वहां चिरकाल तक टिक नहीं सकते । परन्तु सूर्यके द्वारा ही ब्रह्मलोकमें प्रविष्ट होकर स्थिर-तापूर्वक निवास कर सकते हैं । क्योंकि वहां इनके साथ, अनेक रोगों के आगार स्थूलशरीरों का सम्बन्ध नहीं है । खंड ५ “अथ-यधज्ञः” — इत्यादि श्रुतियों से पूर्णब्रह्मचर्यके द्वारा ही वह ब्रह्मलोक

प्राप्त किया जा सकता है ।

ब्रह्मसूत्र अ० ४ पाद ४ सूत्र ६ “अत एव च अनन्या-
धिपति”-इस सूत्रसे, वहां किसीकी दासता नहीं करनी पड़ेगी ।
देखोजो, यदि ब्रह्मलोकमें भी पहुँचकर किसीकी दासता है तो
वह ब्रह्मलोकभी सर्वोत्तमलोक क्यों कहा जायेगा, अतः विद्वान्
वहां सत्यसंकल्प आदि ऐश्वर्यमें स्वतन्त्र है । अतः वहां किसीकी
दासता नहीं है । वहाँपर ब्रह्मकोभी प्रातः सायं प्रणाम नहीं
करना पड़ेगा । क्योंकि वहाँ दिन और रात नहीं है, वहतो “सकृत्
प्रभात” या सदैव प्रकाशवाला लोक है । वहाँ ब्रह्मकोभी सेवाकी
अपेक्षा नहीं है, अतः वहाँ ब्रह्मभी स्वतन्त्र है और ब्रह्मलोक
निवासीभी स्वतन्त्र है । कोई किसीका स्वामी या सेवक नहीं है ।
वहाँ स्वर्गकी भाँति नाचना गाना नहीं है, अतः वहाँ किसीके
वर और अभिशापसेभी हर्ष और शोक नहीं है ।

ब्रह्मसूत्र अ० ४ पाद ४ जगद्व्यापारवर्ज प्रकरणादसं-
निहितत्वात् ॥१७॥ इस सूत्रमें ऐसा कहा है कि जगत्की
उत्पत्ति आदिके कार्यको छोड़कर अन्य अणिमा आदिरूप ऐश्वर्य
मुक्तोंको प्राप्त होता है किन्तु जगत्की उत्पत्ति आदिका कामतो
नित्य सिद्ध ईश्वर ही करता है ॥१७॥ प्रत्यक्षोपदेशादिति
चेन्नाधिकारकमंडलस्थोक्तेः ॥१८॥ इस सूत्रमें कहा-

हैं कि प्राप्त अधिकारवाला जो सधमंडलमें अवस्थित परमात्मा ईश्वर है—उसीके आधीन उपासकोंका स्वराज्य प्राप्ति होती है, स्वतंत्र नहीं अर्थात् वे बाह्य सृष्टिमें हस्तक्षेप नहीं कर सकते ।
छान्दोग्य० अ० ८ खण्ड १२ की “मनसेतान्कामान्पश्यन्मते”

—इन कामजाओंको मनसेही प्राप्त करता हुआ समझ करता है । इस श्रुतिसे दिव्यमनसेही सुनता देखता बोलता है अर्थात् वहाँ एक इन्द्रिय केवल दिव्य मनही है—उसीकेद्वारा सब इन्द्रियोंके कार्योंको करलेता है । जिस किसी सम्बन्धोंको मिलना चाहें तो उसकी मनसे कल्पना करतेसमयही वह मानसिक सम्बन्धी उसके पास आकर मिलजाता है । वहाँ जिस किसी पदार्थकी कल्पना करता है—उसे वही प्राप्त होजाता है । देखोजी, वहाँ उसकी दृष्टिमें दूसरा तो कोई है ही नहीं है, अतः वहाँ उसे कुछ विक्षेप नहीं है । इसप्रकार वह शुद्ध सात्विक दिव्यमनसे, दिव्य भोगोंकी भोगता—हुआ ब्रह्मलोकमें निवास करता है । फिर वहाँसे दूसरे मन्वन्तरमें लौटकर इस मर्त्यलोकमें या किसी अन्य लोकमें आजाता है । देखोजी, वहाँसे कोई बल पूर्वक इसे निकाल नहीं देता है । इसने तो इतने समयकोही इच्छाकरके उपासना की थी, अतः इसका वहाँसे लौट आनाही उचित है ।

छान्दोग्य० अ० ८ की अन्तिम “न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते”—फिर नहीं लौटता है, फिर नहीं लौटता है—

इस श्रुतिसे, जिस मनुष्यने, ब्रह्मलोकके सुखोंको भोगकर कैवल्य-मुक्तिकी भावनासे ब्रह्मकी दृढ़तम उपासनाकी है वह मुक्त हो-जाता है। मुंडक उप० मुंडक १ खण्ड २ “तपः श्रद्धे ये” इत्यादि मंत्रसे, वानप्रस्थी और भिक्षामांगकर खानेवाले संन्यासी-लोग, सूर्यके द्वारा ब्रह्मलोकमें जाते हैं, जहां अविनाशी परमात्माका निवास है। मुंडक ४ “वेदान्त विज्ञान”—इत्यादि मंत्रसे, वेदान्त-के विज्ञानसे परमात्माकी अभेद उपासना करनेवाले एवं शुद्ध अन्तःकरणवाले यतिलोग, सर्वत्यागद्वारा ब्रह्मलोकमें पहुँचकर परके अन्तकालरूपी महाप्रलयके आगमनमें आदित्यब्रह्मसे अखंड अद्वैतब्रह्मके ज्ञानको प्राप्त करके सबके सबही आदित्यब्रह्मकी मोक्षके साथही मुक्त होजाते हैं। ब्रह्मसूत्र अ० ४ पाद ३ सूत्र १० “कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात्”

—कार्यब्रह्मलोककी प्रलय उपस्थित होनेपर वहाँपर, ब्रह्मके द्वारा ज्ञान प्राप्त करके, सबके सबही हिरण्यगर्भके सहित परब्रह्म—परमपदरूपी कैवल्यमुक्तिको प्राप्त होजाते हैं। उपनिषदोंमें ऐसी मुक्तिको क्रम-मुक्ति कहा गया है। इसलिये ब्रह्मलोकके भोग चाहनेवाले उपा-सकोंको पीछे कही गई रीतिसे आदित्यब्रह्मकी अभेद उपासना करनी चाहिए। कारणकि आदित्यनिवासी अपरब्रह्मही उपास्य तथा प्राप्यब्रह्म या प्राप्त करनेके योग्य ब्रह्म है।

देखोजी, एक दो महानुभावोंने अपने २ ग्रन्थोंमें, वैकुण्ठलोक

आदि लोकोंकी यह व्यवस्था बनाई है कि एक ब्रह्मलोकही उपासकोंकी भावनाके अनुसार, उन्हें वैकुण्ठ आदिके रूपमें भिन्न २ प्रतीत होता है। परन्तु यह व्यवस्था उपनिषदोंके तथा ब्रह्मसूत्रके आधारपर नहीं है। दूसरी बात यह कि पुराणोंमेंभी ऐसी व्यवस्था नहीं है। क्योंकि वे अपने अपने उपास्य ईश्वरके वैकुण्ठलोक आदि लोकोंको कल्पित न मानकर उन्हें वास्तविक बनारहे हैं। इसलिये उपनिषदोंके तथा ब्रह्मसूत्रके अनुसार अपरब्रह्मका ब्रह्मलोकही विशेषलोक है तथा वही उपास्य और प्राप्यब्रह्म है।

पूर्वोक्तरीतिसे वैदिक ब्रह्म विचारमें प्राप्यब्रह्म नामवाला चौथा प्रकरण समाप्त हुआ।

५ प्राज्ञात्मा ईश्वर अन्तर्यामी

सब जीवोंका अपना स्वरूप ईश्वर है और अन्तर्यामी है।

सुषुप्तिकी मध्य अवस्थाका नाम तुरीय अवस्था है। उसीके अभिमानी या स्थानवाले सच्चिदानन्दका नाम इच्छारहित होनेसे शुद्ध आत्मा है। सुषुप्तिकी आदि और अन्तिम अवस्थाका नाम कारणशरीर या आनन्दमयकोश है। यह अति सूक्ष्म अस्मि हैं इसप्रकारकी एक वृत्ति है। ऐसी वृत्ति उत्पन्न होजानेसे उसी शुद्ध आत्माका नाम अब प्राज्ञ होगया है। यही प्राज्ञात्मा उस सूक्ष्मवृत्तिको बुद्धिरूप धारण करनेके लिए फिर उस बुद्धिको शुभ

या अशुभ कर्म करनेकेलिए प्रेरता है । इसप्रकार प्राज्ञात्मा प्रेरक-
होनेसे ईश्वर है और अन्दर प्रेरणा करनेसे इसकाही नाम अन्त-
र्यामी है । बुद्धि या विज्ञानमय प्रेर्य या जीव है । बृहदा० अ० ३

ब्राह्मण ७ श्रुति ३ — “यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्यां
अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः
पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः”

प्राज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि हे उद्दालक, जो पृथिवीमें स्थित है,
पृथिवीके अन्दर है, जिसे पृथ्वी नहीं जानती है, जिसका पृथ्वी
शरीर है, जो पृथ्वीके अन्दर रहता हुआ उसे प्रेरता है, यह तेरा
अविनाशी आत्मा (स्वस्वरूप) अन्तर्यामी है या अन्दरमें प्रेरणा-
करनेवाला है । इसके आगेकी श्रुतियोंने जल अग्नि अन्तरिक्ष
वायु दिवि आदित्य चन्द्रमा तारे आकाश तम और तेजके विष-
यमें भी ऐसा ही कहा है । यह देवताओंमें अन्तर्यामी कहा गया है ।
इसके आगे अधिभूतमें अन्तर्यामी है, जो कि सर्वभूतोंमें स्थित-
है । इसके आगे अध्यात्ममें अन्तर्यामी कहा है—जो कि प्राण धाणी
चक्षु श्रोत्र मन त्वचा विज्ञान और रेतमें स्थित हुआ प्रेरणाकरता-
है, ये उसे नहीं जान सकते, यह हम सबके अन्दरमें रहकर प्रेरणा
करता है—यह तेरा अविनाशी आत्मा (अपना आप) अन्तर्यामी है ।
तात्पर्य यह है कि तेरा स्वरूप सच्चिदानन्द आत्मा, केवल
मेरे ही जड़शरीरके अन्दर रहकर हम मम धाणी आदिकोंका

अन्तर्यामी नहीं है, यह तो ध्यापक है—इससे यह सच्चिदानन्द सभी जड़जगतका अन्तर्यामी है या अन्दरमें प्रेरक है। अब इसके आगेके पाठको लीजिए। अदृष्टो द्रष्टा अश्रुतः श्रोता अमतो मन्ता अविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोस्ति द्रष्टा नान्योऽतोस्ति श्रोता नान्योऽतोस्ति मन्ता नान्योऽतोस्ति विज्ञाता एष त आत्मा अन्तर्याम्य-मृतोऽन्यदार्तम् । ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम”

यह सत्यज्ञानानन्द अन्तर्यामी आत्मा, पृथिवीसे आदि लेकर और रेत पर्यन्त किसी भी जड़ वस्तुसे न देखनेवाला होता-हुआ भी सबका द्रष्टा है या देखनेवाला है, न सुननेमें आनेवाला होताहुआ भी श्रोता है या सुननेवाला है, मननमें न आनेवाला होताहुआ भी मन्ता है या मननकरनेवाला है, जाननेमें न आनेवाला होताहुआ भी विज्ञाता है या जाननेवाला है, इससे भिन्न अन्य कोई द्रष्टा नहीं है, इससे भिन्न अन्य कोई श्रोता नहीं है, इससे भिन्न अन्य कोई मन्ता नहीं है, इससे भिन्न अन्य कोई विज्ञाता नहीं है, यह त्रेरा अविनाशी आत्मा अन्तर्यामी है, इससे भिन्न और सब विनाशी है। इतना सुनकर आरुणिपुत्र उद्दालक प्रश्न करनेसे उपराम हो गया। यह श्रुतिका अर्थ है।

लो प्यारे मित्रजी, वेदरूपी बड़ी सरकारकी इस आज्ञासे तो प्रत्येक शरीरमें देखनेवाला जाननेवाला और अन्तर्यामी एक ही

आत्मा है। दूसरा कोई देखनेवाला सुननेवाला मननकरनेवाला जाननेवाला और अन्तर्यामी नहीं है। इससे चाहे तो आप अपने आपको ही इस शरीर में देखने और सुननेवाला आदि मान लो या फिर अपने से भिन्न किसी दूसरे ही ईश्वर को इस शरीर में देखने और सुननेवाला आदि मान लीजिए। द्रष्टा और अन्तर्यामी तो इस शरीर में एक ही रह सकेगा। उपरोक्त बड़ी सरकार की आज्ञा के विपरीत और अपने अपने अनुभव के विपरीत दूसरा अन्य कोई द्रष्टा और अन्तर्यामी नहीं रह सकेगा। अतः उसका इस शरीर में निवास करना उचित नहीं है। अस्तु। उद्दालकजी तो बुद्धिमान थे—इससे वे तो प्रत्येक शरीर में उपाधिके भेद से द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता और अन्तर्यामीका भेद जानकर वास्तव में उसे एक ही अनुभव करके मौन हो गए। आप अभी संभव है न भी चुप रह सकेंगे। क्योंकि आप यदि हठधर्मी होवेंगे या किसी संप्रदाय में जकड़े गए होवेंगे तो आपको मौन कराने की किसी की भी सामर्थ्य नहीं है। कारण कि आप सत्यता से बहुत ही दूर हैं।

अभी और लीजिए। माण्डूक्य की “एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषो-
ऽन्तर्यामी”—यही सबका ईश्वर है, यही सबको जाननेवाला है और यही अन्तर्यामी है, इत्यादि श्रुतिके अनुसार, प्राज्ञात्मा ही सर्वेश्वर आदि है, अर्थात् यह समष्टिरूप से या अपने सभी प्राज्ञों-
के रूप से सर्वेश्वर सर्वज्ञ और सबका अन्तर्यामी है।

श्रीगीता अ० १८.श्लोक ६१—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

आमयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥६१॥

हे अर्जुन, प्राज्ञात्मा ईश्वर, अपने संपूर्ण प्राज्ञोंकेरूपद्वारा सब प्राणियोंके हृदय स्थानमें, विज्ञानमय या बुद्धिरूपी सर्वभूतोंको जोकि शरीररूपी यंत्रमें आरूढ़हैं उन्हें मायासे अमाताहुआ स्थितहै । इस श्लोकका वास्तविक अर्थ यही है । कारणकि जीवोंका उपास्य और प्राप्य अन्तर्यामी ब्रह्म, प्रत्येक देहमें स्वरूपसे स्थित नहींहै । क्योंकि “नान्योऽतोस्ति द्रष्टा”—इस श्रुतिसे और अपने अनुभवसे प्रत्येक शरीरकेप्रति एक ही अन्तर्यामी सिद्धहोताहै । अतः प्राज्ञात्माही ईश्वरहै, और अन्तर्यामीहै । इसलिये प्रत्येक जीवात्मा अपनी बुद्धिको शुभकी ओर वा अशुभकी ओर प्रेरणाकरके भला बुरा साधु असाधु आस्तिक या नास्तिक जो कुछ भी बनना चाहे बनसकताहै । क्योंकि यह ऊपरकहीगई रीतिसे कर्मकरनेमें स्वतन्त्रहै ।

मुण्डक उप० मुण्डक ३ मंत्र १—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया—

समानं वृक्षं परिपस्वजाते ।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य—

नश्नन्नन्यो ऽ भिचाकशीति ॥

एक साथ रहनेवाले तथा परस्पर सर्वव्यभाव रखनेवाले दो पक्षी एकही शरीररूपी वृक्षका आश्रयलेकर रहते हैं, उन दोनोंमें एक उस वृक्षके कर्मरूप फलोंका स्वादलेकर खाता है, और दूसरा न खाता हुआ केवल देखता है। इस मंत्रके अनुसार प्रत्येक शरीरमें दो पक्षी रहते हैं। ब्रह्मसूत्र अ० १ पाद २ “विशेषणाच्च” ॥१२॥

इस सूत्रके शांकरभाष्यके अनुसार उन दोनोंमें बुद्धिविशिष्ट चैतन्य विज्ञानात्मा कहलाता है। और दूसरा निरुपाधि चैतन्य परमात्मा है। इनमें कर्ता भोक्ता विज्ञानात्मारूपी जीवही शुभाशुभ कर्मोंको करके उनके सुख और दुःखरूप फलोंका भोक्ता है। दूसरा निरुपाधि चैतन्य परमात्मा, किसीभी कर्मका कर्ता तथा भोक्ता न होता हुआ केवल द्रष्टा है। वास्तवमें, विज्ञानात्मारूपी जीवभी बुद्धिके लीन होजानेपर, सुषुप्ति अवस्थामें उस सद्रूप परमात्मासे भिन्न नहीं है। क्योंकि बुद्धिरूप उपाधिके बिना विज्ञानात्मानामी जीवभी कर्ता भोक्ता न होकर केवल अद्वैत द्रष्टा ब्रह्म है। भाष्यमें, पैंगीरहस्य ब्राह्मणके अनुसार, उक्त मंत्रकी दूसरी व्यवस्था इसप्रकार की गई है कि उन दोनोंमें बुद्धिरूपी पक्षी तो कर्ता और भोक्ता है। दूसरा क्षेत्रज्ञ या चैतन्यात्मा कर्ता और भोक्ता न होता हुआ केवल द्रष्टा है। अस्तु। मेरे विचारमें, पहली व्यवस्था की अपेक्षा दूसरी रीति अच्छी प्रतीत होती है। कारणकि “धियो यो नः प्रचोदयात्”—वह हमारी बुद्धियोंको शुभकी ओर प्रेरणा करे, “स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु”—वह हमें अच्छी बुद्धिके

युक्त करे, “तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु” वह मेरा मन शुभ संकल्प करनेवालाहो, ऐसी प्रार्थनाएं केवल बुद्धि मनके प्रेरणार्थ की जाती हैं, चैतन्यके लिए नहीं। इसलिए परिणामी स्वभाव वाली बुद्धिही कर्ता भोक्ता है। अपरिणामी और निष्क्रिय-होनेसे चैतन्यात्मा कर्ता भोक्ता न होकर केवल द्रष्टा है। पूर्वपक्ष-कुछलोग, इसमंत्रमें जीवका और उपास्य ईश्वरका ग्रहण-करके इसका यह अर्थ करते हैं कि प्रत्येक शरीरमें उन दोनोंमें जीव तो भोक्ता है तथा उपास्य ईश्वर न भोक्ता हुआ केवल देखता ही है।

सिद्धांत या उत्तरपक्ष-यदि यह मान लिया जाए कि जीवके ससान फल प्रदाता उपास्य ईश्वरभी प्रत्येक शरीरमें निवास करता है तबतो जितने शरीररूपी वृक्ष हैं उतने जीवतो हैं ही किन्तु ईश्वर भी उतनेही अर्थात् असंख्यही मानने पड़ेंगे। परन्तु ऐसा मानने-केलिये कोई तैयार नहीं है। इसलिए जो भी लोग, शुद्धसत्त्वविशिष्ट उपास्य और प्राप्यब्रह्म ईश्वरको स्वरूपसे व्यापक बनानेवाले और सुननेवाले हैं वे वक्ता और श्रोता दोनोंही अज्ञानी अन्ध-श्रद्धालु और ईश्वरसे विमुख तथा उसकी भक्तिके विरोधि माननेके योग्य हैं। देखोजी, वह आपके मलमें मूत्रमें और जूता आदि अपवित्र स्थानोंमें निवास क्योंकरेगा। तुमें लज्जा नहीं आती है और नहीं आवेगी अपने परमश्रद्धेय परमपूज्य पुरुषोत्तम स्वामीको अपने मल मूत्र और जूता आदि अशुद्ध

स्थानोंमें बैठतेहुए । इसलिए केवल अन्धपरंपरासे श्रवणकीहुई और अपने अनुभवसे शून्य बातोंको ग्रहण नहीं करना चाहिए । कुछ काम तो अपनी बुद्धिसेभी लेना चाहिए । अतः मायापति आदित्यात्मा ब्रह्म ईश्वर, अपने स्वरूपसे व्यापक नहींहै, वह ज्ञानकेद्वाराही व्यापकहै या उसका ज्ञान व्यापकहै । वह ज्ञानमें स्वतन्त्रहै, वह चाहे अपने ज्ञानको मल मूत्र आदिमें लेजाए या पवित्र स्थानोंमें लेजाए, क्योंकि वह स्वतन्त्रहै । हमलोगभी अपने वृत्तिज्ञानको कान और नेत्र आदि इन्द्रियोंद्वारा या केवल मनद्वारा एक स्थानमें बैठेहुए बहुत दूरतक एवं शुभ या अशुभस्थानमें लेजायाकरतेहैं । क्योंकि हमलोगभी अपने अपने ज्ञानके ईश्वरहैं या प्रेरकहैं । इसलिए आदित्यब्रह्म ईश्वरका, ज्ञानही व्यापक है वह ज्ञानी या ज्ञानवाला स्वरूपसे व्यापक नहींहै । इससे सिद्ध होगयाकि उक्त मंत्रमें स्वामी और सेवकरूप आत्मा और परमात्माका ग्रहण नहींहै । विज्ञानात्मा और तुरीय शुद्ध आत्माकाही ग्रहण करना निर्दोषहोनेसे योग्यहै । और जो लोग, फल प्रदाता उपास्य ईश्वरकोही अन्तर्यामी या सत्रके अन्दर प्रेरणाकरनेवाला मानरहेहैं वे लोगभी अज्ञानी और अन्धश्रद्धालुहोनेसे दयाके पात्रहैं, अतः वे क्षम्य या क्षमाकरनेकेयोग्यहैं । क्योंकि जीव, कर्म करनेमें स्वतंत्रहै । यदि ऐसा नहींहै तो फिर जबकि कोई गोघातक या कसाई गोहत्यारूपी एक नया पापकर्म करताहै, क्या तुम मानलोगेकि वह हिंसाकर्म, जिसे तुम अन्तर्यामी कहरहेहो वह कसाई-

के अन्दर प्रेरणाकरके करवा रहा है। क्या तुम मानलोगे कि हमारा
 माना हुआ अन्तर्यामी व्याधके अन्दर प्रेरणाकरके उससे एक
 नवीन हिंसा कर्म कर रहा है। क्या तुम मानलोगे कि हमारा सर्वज्ञ
 अन्तर्यामी किसीके अन्दर प्रेरणाकरके उससे चोरी या भयंकर
 डाका डलवा रहा है। क्या तुम मानलोगे कि हमारा आराध्य
 परमात्मा अन्तर्यामी, द्यूत शराब भूठ दंभ मांसभक्षण और
 अपनी स्त्रीके होते हुए वेश्यागमन, इत्यादि पाप कर्म, जो कि
 उस अन्तर्यामी परमात्मा ईश्वरने अपने बनाए हुए वेदोंमें निषेध
 किए हैं, फिर उन्हीं पापकर्मोंको वही हमारा स्वामी जीवोंके अन्दरमें
 प्रेरणाकरके उनसे करवा रहा है। क्या तुम मानलोगे कि हमारे
 उपास्य ईश्वर अन्तर्यामीने, यवनके अन्दर प्रेरणाकाके, काशीमें
 शिव, अयोध्यामें राम, मथुरामें कृष्ण और कैथलमें हनुमानजी
 इत्यादिके मन्दिरोंको छिन्न भिन्न करवाकर, अपने अनन्य प्रेमियों
 को कष्ट पहुँचानेके लिए उनके स्थानमें मसजिदें बनवाई थीं।
 शोक है तुमलोगोंका अन्धश्रद्धायुक्त अनुभवसे शून्य ऐसी बुद्धि
 पर—इसीसे तुमलोग दयाके पात्र हो। अस्तु। गीता अध्याय १५
 श्लोक ८ “शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः”
 हे अर्जुन, जब यह ईश्वर, दूसरे किसी शरीरको प्राप्त करता है
 और इस शरीरसे उत्क्रमण यानि इसे त्यागता है। इस श्लोकमें
 जीवात्माका नाम भी ईश्वर है।
 ब्रह्मसूत्र या वेदान्तदर्शनको भी लेलीजिए। श्रीशंकराचार्यजीने,

ब्रह्मसूत्र अ० १ पाद. २ सूत्र २० “शारीरश्चोभयेपि हि भेदेनैनमधीयते” - इससूत्रके अपने भाष्यद्वारा यह घोषित किया है कि “यो विज्ञाने तिष्ठन्” (बृ० ३ । ७ । २२) इति काण्वाः । “य आत्मनि निष्ठन्” इति माध्यन्दिनाः इन दोनों शाखाओंमें, विज्ञान शब्द और आत्मनि शब्द जीवका वाचक है । और वह जीव विज्ञानमय है, उस जीवसे अन्तर्यामी भिन्न है । अविद्या कल्पित कार्यरूप सूक्ष्मशरीर उपाधिकेद्वारा और आनन्दमयरूप कारण उपाधिकेद्वारा, जीव और अन्तर्यामी ईश्वरका भेद है, परमार्थसे नहीं है । क्योंकि एकही प्रत्यगात्मा या अन्तरात्मा है । दो आत्मा नहीं हैं । एकही आत्माके भेदका व्यवहार उपाधिका किया हुआ है, जैसाकि घटाकाश और महाकाशका भेद है । वास्तवमें भेद नहीं है । इस भाष्यका तात्पर्य यह है कि एकही आत्मा, आनन्दमयरूप कारण उपाधिकेद्वारा प्राज्ञरूपसे अन्तर्यामी-प्रेरक है और विज्ञानमयरूप कार्य उपाधिकेद्वारा तैजसरूपसे प्रेर्य या प्रेरणाकिया जाता है । परन्तु वास्तवमें ये दो आत्मा नहीं हैं । इससे भी सिद्ध होगया कि यह प्राज्ञात्मा अपनी बुद्धिका अपने आपही ईश्वर है और अन्दरमें प्रेरणाकरनेसे अन्तर्यामी है ।

एवं या इसप्रकार वैदिक ब्रह्मविचारमें प्राज्ञात्मा ईश्वर अन्तर्यामी नामवाला पाँचवां प्रकरण समाप्त हुआ ।

६ आदित्यात्माब्रह्म ईश्वर अन्तर्यामी
आदित्यशरीरीअपरब्रह्म, ईश्वरहोनेसे अन्तर्यामीहै।

जब हम वैदिक मंत्रोंमेंसे गायत्रीमंत्रद्वारा प्रार्थना करेंगे ।

ओं भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य
 धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्—वह परमात्मा सविता
 सूर्यदेव, हमारी बुद्धियोंको शुभकी ओर प्रेरणाकरे। तब
 वह हमारे अन्दरमें प्रेरणा करेगा इससे वह हमारा
 अन्तर्यामी होजाएगा । गायत्रीमंत्रका पूरा अर्थ, उपास्य
 प्रकरणमें लिखाजाचुकाहै, अतः वहां देखलेना। जब हम किसी
 अन्य वैदिक मंत्रकेद्वारा या स्मृतियोंके किसी श्लोककेद्वारा या
 अन्य किसी ग्रन्थके सूत्रआदिकेद्वारा या अन्य किसी भाषाके-
 द्वारा अपनी बुद्धिको शुभकी ओर प्रवृत्तकरानेकेलिए, आदित्या-
 त्मा ईश्वरसे प्रार्थना करेंगे, तब वह हमारा अन्तर्यामी होजाएगा।
 या फिर हमने स्वतंत्रहोकर किए जो पुण्य पापरूपी शुभ और
 अशुभ कर्म, उनका सुख और दुख फल देनेकेलिए वह फल
 प्रदाता आदित्यात्मा ईश्वर हमारा अन्तर्यामी बनजाताहै।
 ब्रह्मसूत्र या वेदान्तदर्शनमें, पूर्वपक्षके रूपमें यह शंका कीगई-
 हैकि ईश्वर, किसी मनुष्यको उच्च किसीको नीच किसीको साधु
 किसीको चोर किसीको आस्तिक किसीको नास्तिक किसीको
 स्वरूपवान किसीको कोढ़ी किसीको अल्पायुमें मारदेताहै, किसी-

को सैकड़ों वर्ष बीतनेपर मारताहै, किसीको धनी किसीको निर्धन किसीको विद्वान् किसीको अविद्वान् किसीको राजा किसीको दरिद्री बनादेताहै । और भी भला तथा बुरा आदिके रूपमें जीवों को बनादेताहै । वह किसी जीवको उच्च या नीच बनानेसे तो विषमता दोषवालाहै । अतः एक दोष तो ईश्वरमें यहहै । दूसरा दोष ईश्वरमें यहहै कि वह जीवोंको अनेकप्रकारके रोगोंसे दुखी करताहै और उनकी मृत्युभी करताहै, अतः उसमें निर्घृणा या निर्दयताभी है । इसप्रकार विषमता और निर्दयता ये दोनों दोष ईश्वरमेंहैं । ऐसी शंका करके, शंका और समाधानकेरूपमें अध्याय २ पाद १ सूत्र ३४ “वैषम्य नैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति” यह सूत्रहै । इसका अर्थहै कि विषमता और निर्दयता ईश्वरमें नहींहैं । क्योंकि वह जीवोंके पुण्य पापरूपी कर्मोंकी अपेक्षा रखताहै अर्थात् मनुष्य, जैसा पुण्य या पापरूप कर्मकरताहै उसके अनुसारही ईश्वर, मनुष्यको उस कर्मका फल, सुख या दुख देदेताहै, अतः आदित्यात्मा ब्रह्मईश्वरमें ये दोनों ही दोष नहीं हैं ।

कौषीतकी उप० अध्याय ३ श्रुति ८ “एष हेयवैतंसाधु कर्म कारयति तं यमन्त्रानुनेषत्येष एवनमसाधु कर्म कारयति तमेभ्यो लोकेभ्योनुनुत्सत्” यह परमात्मा ही उस जीवसे शुभ कर्म कराताहै—जिस मनुष्यको यह ऊपर

लेजाना चाहता है , और यही ईश्वर, उससे पाप कर्म करादेता- है, जिसको इन मनुष्य आदि शरीरोंसे या भू आदि लोकोंसे नीचे गिराना चाहता है । यह श्रुतिका अर्थ है । इस श्रुतिकेद्वारा यह शंका उत्पन्न होती है कि ईश्वरही सब जीवोंको बड़ा छोटा सुखी दुखी आस्तिक नास्तिक आदि सभी रूपोंमें इनको प्रेरणा करने- वाला है, अतः भला या बुरा बनाना आदि जो कुछ भी है सब ईश्वरकेही आधीन है, मनुष्योंके कुछ भी आधीन नहीं है । परन्तु इस श्रुतिका ऐसा अर्थ नहीं है, जैसा इसका अर्थ तुम लोग समझ- रहे हो । इस श्रुतिका तात्पर्य अर्थ यह है कि ईश्वर, भलाई करने- वाले मनुष्यसे उसकी सहायताके रूपमें उससे कोई ऐसा कर्म कराता है जिससे वह और भी उच्चताको प्राप्त होजाता है । और जो मनुष्य, रावणके समान अति अभिमानी होकर बड़े बड़े अनर्थ करने लगजाता है-तब उससे कोई ऐसा नीचकर्म कराता है जिससे उसको नीचा देखना पड़ता है तथा उसका अहंकार निवृत्त होजाता है । यदि इस प्रकारकी श्रुतियों तथा अन्य वाक्यों का ऐसा अर्थ किया जाएगा कि सबकुछ ईश्वरही करवाता है-तब तो मनुष्योंकी कल्याणकेलिये ईश्वरकेद्वारा बनाया गया जो विधि निषेधरूप वेद, वह सबका सबही व्यर्थ होजाता है । क्योंकि मनुष्योंके तो बसकी कोई बातही नहीं रहजाती है, यदि इनसे सबकुछ ईश्वरही करवाता है । अतः मनुष्य, वास्तवमें ही कर्म करने- में स्वतंत्र है । इसप्रकार एकतो पुण्य पापरूपी कर्म करनेमें

स्वतंत्र होनेसे हम सभीलोग, अपने आप ईश्वर या प्रेरकहोनेसे अन्तर्यामीहैं, और दूसरा वह-जोकि प्रार्थना करनेपर और हमारे शुभाशुभ कर्मोंका सुख दुखरूप फल देनेमें आदित्यात्माब्रह्म ईश्वर अन्तर्यामीहैं।

इसप्रकार वैदिक ब्रह्मविचारमें आदित्यात्माब्रह्मईश्वर अन्तर्यामी नामका छठा प्रकरण समाप्त हुआ।

७ अंशांशी ब्रह्म

विशुद्धब्रह्मसच्चिदानन्दका अंशहोनेसे जीवभी सच्चिदानन्दस्वरूपही है।

चतुष्पाद सत्यज्ञानानन्दका एकपाद सच्चिदानन्द, अंशोंके रूपमें हुआहै। महाप्रलयकी मध्य अवस्थामें सच्चिदानन्दका स्वगत आदि तीनों मेदोंसे रहितहोनेसे अनन्तरूप था, अतः वह चतुष्पादविशुद्धब्रह्म था। महाप्रलयकी अन्तिम अवस्थामें जब उसके एकपादमें इच्छा होगई तब वह तीनपाद विशुद्ध और एक पादसे माया तथा अविद्याके सहितहोनेसे अंशोंकेरूपमें विभक्त होगया या बटगया। उन अंशोंमें सबसे और सब प्रकार बड़ा अंश, मायापति आदित्यात्माब्रह्म ईश्वरहै। और जितनेभी ब्रह्मा विष्णु शिव तथा अन्यान्य देवी देवता एवं दैत्य दानव मानव पशु पक्षी कीट और पतंग आदिहैं, ये सब एक दूसरेकी अपेक्षासे उस ब्रह्मके बड़े और छोटे अंशहैं। सच्चिदानन्दब्रह्म निरव-

यवहै, अतः इसके ये सब मुख्य अंश न होकर अंश की भांति अंश हैं ।

अंशी नाम राशि या ढेरकाहै । अंश नाम, पाद भाग कण या हिस्सेकाहै । जो कुछ गुण आदि वस्तु अंशीमें होतीहै, वही गुण आदि वस्तु उसके अंशमें होतीहै, यह नियमहै । जैसाकि रूपरंग और खारापन नभकके अंशी या ढेरमेंहै, वही सफेदरूप और खारापन उसके अंश या कणमेंहै । जैसाकि सफेदरूप और मीठापन मिथ्रीके अंशी या राशिमेंहै वही रूपरंग और मीठापन उसके अंश या कणमेंहै । जैसाकि उष्ण प्रकाश अग्निके अंशी-मेंहै वही उष्ण प्रकाश उसकी अंशरूपा चिंगारीमेंहै । जैसाकि खारापन समुद्रमेंहै वही खारापन उसकी अंशरूपा एक बूंदमेंहै । इसीप्रकार सोना चांदी लोहा पीतल आदि सभी वस्तुओंको लेलीजिए । जो कुछभी अंशीमें होगा वही उसके अंशमें अवश्य-ही होगा । जिससेकि अंशी परब्रह्म, सच्चिदानन्दस्वरूपहै, इसीसे उसके अंश ये आदित्यात्माब्रह्मईश्वर जीव सबके सब सच्चिदानन्द स्वरूपहैं ।

मुण्डक उप० मुण्डक २ खण्ड १-“तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिगा सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः । तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति” हे सोम्य, यही परब्रह्म सत्यहै,

जिसप्रकार प्रज्वलित अग्निमेंसे उसीके समानरूपवाली हजारों चिन्गारियां अनेकप्रकारसे प्रकटहोतीहैं उसीप्रकार अविनाशी परब्रह्मसच्चिदानन्दसे अनेकप्रकारके चर और अचर पदार्थ उत्पन्नहोतेहैं और अन्तमें उसीमें लीनहोजातेहैं । देखोजी, आप लोग, यदि हठधर्मी नहीं होवेंगे किन्तु समझदार होंवेंगे तो इस मंत्रकेद्वारा निसन्देह समझगए होवेंगे कि सभी जीव, सच्चिदानन्दब्रह्मके अंशहोनेसे सच्चिदानन्दही हैं । भेद केवल इनमें शरीररूपी उपाधियोंकेद्वाराही है, वास्तवमें नहींहै ।

कठोपनिषद् अ० २ वल्ली ५ श्रुति ६—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो,

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा,

रूपं रूपं प्रतिरूपो वहिश्च ॥

भावार्थ—जैसाकि एकही अग्नि, काष्ठमें प्रविष्टहोकर उसी काष्ठके समानरूपवाली होजातीहै अर्थात् जैसा जैसाभी उस काष्ठका सीधा या टेढ़ा आदि आकार होताहै—वैसाही आकार उसमें अग्निकाभी प्रतीत होनेलगताहै, परन्तु वास्तवमें अग्नि, सीधी और टेढ़ी नहींहै—उसीप्रकार, एकही सर्वभूतोंके अन्दर परब्रह्म सच्चिदानन्द, उसी २ आदित्यात्मा ईश्वरके तथा अन्य जीवोंके समान आकार वाला एवं उन्हीं उन्हींके सात्त्विक राजसिक

था तांमसिक स्वभाववाला प्रतीत होनेलगजाताहै, और उनके बाहरभीहै, अर्थात् यह सृष्टि तो उसका एकपादहै और वह तीनोंपाद विशुद्धसच्चिदानन्द, इस सृष्टिके बाहरहै । अग्निकी समानतामें अब विजलीका दृष्टांतभी बहुत उपयोगीहै । क्योंकि विजलीका प्रकाश, एकरूप होताहुआभी, हरे पीले लाल और नीले आदि बल्लवोंकेद्वारा, जैसा उनका रंगहै उसी रंगके समान और जैसा उनका आकारहै उसी उसी आकारके समान और जैसा उनका पन्चीस पच्चास या सौ आदि नम्बरहै उस नम्बरकी मन्द और तेजीके समान प्रतीत होनेलगताहै । वास्तवमें विजलीके प्रकाशमें उक्त ये भेद नहीं हैं ।

लो मित्रजी, उक्त श्रुतिकेद्वाराभी यदि आपकी बुद्धिमें सच्चिदानन्दका ब्रह्म रूप या व्यापकरूप आरूढ़ नहीं होताहै तो इस-केलिए आप, आदित्यात्माब्रह्मकी अभी कुछ समयतक और भक्ति कीजिए—तबही आपकी समझमें सच्चिदानन्दका व्याकरूप आसकेगा ।

कोई कोई भक्तलोग, देखोजी, मैं तो उस नाममात्रके भक्तको वास्तवमें भक्त नहीं कहूंगा, जोकि सत्यज्ञानानन्दकी ब्रह्मरूपताको खंडित करताहै । अस्तु । वह यह कहताहै कि परमात्मा तो सत् चित् आनन्द रूपहै—उसीका अंश यह जीवात्मा, सत् और चित् रूप तो है परन्तु यह आनन्दरूप नहींहै । यह जीव आनन्दको, ईश्वरसे उधारपर लेकरके अर्थात् उसकी भक्तिकरके

आनन्दको भोगता है। परन्तु यह, शास्त्र संस्कारशून्य वच्चोंकी-
सी बात है। क्योंकि ऐसे अज्ञानीसे पूछना चाहिये कि जीवकी
एकाग्रतावृत्तिरूपी जो आनन्दमयकोश है जोकि प्रत्येक जीवकी
स्वाभाविक अवस्था है—यह आनन्दसे भरपूर कैसे नहीं है। अस्तु।
इस उक्त पक्षमें इतना भाग तो बहुत ही अच्छा है कि यह जीवा-
त्मा, ईश्वरकी भक्तिकरके धर्म अर्थ काम और मोक्ष नामके चार
पदार्थोंमें अपने मनोअभिलषित पदार्थको प्राप्त कर आनन्दित हो-
जाता है। परन्तु यह कथन सर्वथा ही विपरीत है कि यह उसका
अंश होते हुए भी आनन्दरूप नहीं है। दूसरी बात यह कि जीवा-
त्मा, उस ब्रह्मलोक या आदित्यनिवासी मायापति ईश्वरका अंश
नहीं है, जिसका अंश जीवात्माको ये भक्तलोग मान रहे हैं। यदि
उस मायापति ईश्वरका अंश, इस जीवात्माको मानेंगे तब तो यह
जीवात्मा भी मायापति ईश्वरका अंश होनेसे सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान
आदि ईश्वरके धर्मोंवाला मानना पड़ेगा। परन्तु ऐसा तो ये
भक्तलोग, मान नहीं रहे हैं। और नाहीं यह अनुभवमें ही आ रहा
है। इसलिए यह जीवात्मा, मायापतिकी अंश न होकर, केवल
सत्यज्ञानानन्दरूपब्रह्मका ही अंश, पीछे कही गई रीतिसे सिद्ध-
होता है, उसके बड़े अंशरूप शुद्धमन्त्रमायापति ईश्वरका नहीं।
जबकि यह जीवात्मा, ब्रह्मसच्चिदानन्दका अंश है—इसीसे यह भी
उसका अंश होनेसे सच्चिदानन्द ही है, यह केवल सत् और चित् रूप
नहीं है। माया रहित सच्चिदानन्दका नाम ब्रह्म है। मायासहित

सच्चिदानन्दका नाम ईश्वर है । और मनरूपी अविद्याके सहित सच्चिदानन्द जीव कहलाता है । अस्तु ।

तैत्तरीयः ब्रह्मानन्दवल्ली अनुवाक ८ में श्रुति—सैषा आनन्दस्य मीमांसा भवति—वह यह आनन्दकी मीमांसा या विचार कीजाती है । जो मनुष्य युवा या युवक है तोभी ऐसा वैसा नहीं किन्तु श्रेष्ठ आचरण युक्त हो, अध्यायकः नाम अधीतवेद हो, शासनयुक्त और अत्यन्त दृढ़ बलशाली हो उसको यह सब पृथिवी अश्व गज आदि धनसे पूर्ण हो अर्थात् वह सब प्रकारके ऐश्वर्यसे संपन्न चक्रवर्ती राजा हो, यह मानव सुखकी अवधि है, इससे अधिक मानव सुख नहीं है । ऐसे सौ मनुष्योंके सौ सुखों जैसा एक आनन्द, एक एक मनुष्यगन्धर्वको है, अर्थात् सार्वभौम मनुष्यसे सौगुना सुख एक मनुष्य गन्धर्वको होता है । उतनाही सुख, मनुष्य गन्धर्वकी कामना रहित श्रोत्रिय नाम ब्रह्मनिष्ठको है । यहां श्रोत्रियनाम तत्त्ववेत्ताका है । क्योंकि अध्यायकः इस विशेषणसे अधीत वेद नाम चक्रवर्ती राजा मनुष्यका कहा जा चुका है । इसलिये यहां श्रोत्रिय नाम वेदवेत्ताका न होकर तत्त्ववेत्ताका है । आगे सौ मनुष्यगन्धर्वोंके सौ आनन्दोंके समान आनन्द, एक एक देवगन्धर्वको है—इतनाही आनन्द, देवगन्धर्वकी कामना रहित तत्त्ववेत्ताको है । आगे सौ देवगन्धर्वोंके सौ आनन्दोंके समान आनन्द, चिरकालस्थितिवाले एक एक पितरको है—वही आनन्द

पितृलोककी वासना रहित ब्रह्मनिष्ठकोहै । आगे सौ पितरोंके सौ आनन्दोंके सदृश आनन्द, एक एक आजानदेवताकोहै, इतनाही सुख, आजानदेवकी इच्छारहित ब्रह्मज्ञानीकोहै । आगे सैंकड़े आजानदेवताओंके सैंकड़े आनन्दोंके तुल्य आनन्द, अकेले २ कर्मदेवकोहै । जोकि कर्मसे देवताबनेहैं, उतनाही आनन्द, कर्म देवकी आशा रहित ब्रह्मवेत्ताकोहै । आगे सौ कर्मदेवताओंके सौ आनन्दोंके बराबर आनन्द, एक एक देवकोहै—उतनाही आनन्द देवपदकी वांछारहित आत्मज्ञानीकोहै । आगे सौ देवताओंके सौ आनन्दोंके समान आनन्द, अकेले इन्द्रकोहै—उतनाही आनन्द इन्द्र पदकी कामना रहित ब्रह्मवेत्ताकोहै । आगे इन्द्रसे सौगुना आनन्द, अकेले वृहस्पतिकोहै, उतनाही आनन्द, देवगुरु पदकी इच्छा रहित ब्रह्मज्ञानीकोहै । आगे देवगुरु—वृहस्पतिसे सौगुना सुख, अकेले प्रजापतिकोहै उतनाही सुख, प्रजापति पदकी वासना रहित आत्मज्ञकोहै । आगे प्रजापतिसे सौगुना अधिक आनन्द, अपरब्रह्मकोहै उतनाही आनन्द, अपरब्रह्म पदकी कामना रहित ब्रह्मनिष्ठकोहै । यह श्रुतियोंका अर्थहै । यहांतकही सांसारिक सुखहै । इससे अधिक संसारमें आनन्द नहींहै इसके आगे इच्छा रहित निर्गुण शुद्ध सामान्य सच्चिदानन्द परब्रह्महै—जो किसीभी प्रकारकी कल्पनाका विषय नहींहै । इसीसे श्रुतिने अपरब्रह्ममें वृत्तिजन्य सुखको सामित कियाहै—अर्थात् समाप्त कियाहै । परन्तु यह विशेष आनन्द, बाहरके किसी स्थानसे नहीं

आता है। यह तो बाह्यपदार्थों के प्राप्त करनेकी अभिलाषा-
 रजोगुणकी कामनारूप वृत्तिके, अपने इच्छितवस्तुकी प्राप्तिमें
 शान्तहोजानेसे सत्वगुणकी वृद्धिसे प्रत्येक जीवके अन्दरमेंही प्रकट
 होता है-जोकि वास्तवमें अपनाही स्वरूप है। इसीलिये इनके आगे
 की श्रुति कहती है-स यश्चायं पुरुषे यश्चासौवादित्ये स एकः
 वह जो आनन्द, इस उपासक पुरुषमें है और जो आनन्द, उस
 आदित्यस्थानी उपास्य ईश्वरमें है वह आनन्द दोनोंमें एक है।
 यह श्रुतिका अर्थ है। यदि जीवोंमें अपना स्वरूपभूत स्वाभाविक
 आनन्द न होता तो ब्रह्मनिष्ठको ईश्वरके समान आनन्द, श्रुति-
 योंमें क्यों प्रतिपादन किया जाता। अतः जीवभी आनन्द स्वरूप-
 हा है-यही आनन्दकी मीमांसा या विचार है। अस्तु।
 उक्त वैदिक श्रुतियोंके आधारपर जीवात्माका स्वरूप सच्चिदा-
 नन्दही है। और अपने अनुभवसे भी जीवात्माका स्वरूप सच्चिदा-
 नन्दही सिद्ध होता है। कारण कि प्रत्येक प्राणधारी, अपरब्रह्मसे
 लेकर चीटी या स्तंभ पर्यन्त, अपनी वृत्तिके एकाग्रहोजानेपर,
 अपने अन्दरही आनन्दका अनुभव करता है। चाहे वह वृत्तिकी
 एकाग्रता किसी अभिलषित विषयकी प्राप्तिसे है और चाहे वह
 वृत्ति सुषुप्तिकी आदि और अन्तिम अवस्थामें स्वाभाविक है।
 यदि आप हठधर्मी लोग, श्रुतियोंके अनुसार, और अपने अनुभव
 से भी सिद्ध हुए जीवात्माके सच्चिदानन्द स्वरूपको नहीं मानेंगे
 तो मैं आपसे यह पूछ रहा हूँ इसका आप उत्तर दीजिए। क्या

आप कहसकतेहैं, जबकि एक नास्तिक मनुष्य, ईश्वर वेद तथा परलोकको न मानताहुआ किसी आस्तिक मनुष्यके साथ विराट सभामें शास्त्रार्थ करताहुआ विजयको प्राप्तकर अति हर्षित प्रसन्न और आनन्दित होरहाहै, तब वह आनन्द क्या उसको ईश्वरकी ओरसे भेजाजारहाहै । क्या आप कहसकतेहैं-जबकि दुर्योधन कर्ण और शकुनी आदि लोग, युधिष्ठिरके साथ कपट धूतमें विजय लाभ करचुके, तब उन्हें जो अतिसंतोष प्रसन्नता या आनन्द हुआथा, तब वह आनन्द क्या उन अधर्मियोंको तुमारे ईश्वरकी ओरसे भेजागयाथा । क्या तुम कहसकतेहो कि एक मदिरापान करनेवाले मनुष्यको, मदिरापान करतेही जो मस्ति हर्ष या अति आनन्द आजाताहै, जिसकेकारण वह “तृणवन्मन्यते जगत्” सब संसारको घासफूसके समान समझकर उसका अनादर करताहै, वह आनन्द क्या उसको ईश्वर भेजरहाहै । क्या आप कहसकतेहैं जबकि एक कामी पुरुष अपनी सुन्दरी साध्वी स्त्रीके होतेहुए उसका अनादरकर किसी वेश्यासे गमनकरके बहुत प्रसन्न होरहाहै, वह आनन्द क्या उसको ईश्वरनेहीं दिया होगा । क्या तुम कहसकतेहो जबकि एक गोघातक निरपराध गौकी हत्या करके उसका रक्त या खून सपरिवारके पीकर खुशी मना रहाहै वह खुशी क्या उसको ईश्वरने दीहै । क्या तुम कहसकतेहो, जबकि व्याध या शिकारी, अपने बाण आदि साधनों द्वारा, निरपराध जीवोंके प्राणोंको

लेकर, अपने उस निशानेकी वड़ाई करता हुआ अतिहर्षित या आनन्दित हुआ करता है तब वह आनन्द क्या उसको ईश्वरही भेजा करता है । क्या तुम कह सकते हो, जिन चोरी भूठ आदि कुकर्मोंको संसारके सभी भलेमनुष्य, बुरा मान रहे हैं—उन कुकर्मोंके करनेवाले मनुष्योंको जो आनन्द प्राप्त होता है वह क्या ईश्वरही भेजा करता है । यदि इन ऊपरमें कहे हुए सभी कुकर्मोंके करनेवाले मनुष्योंको आनन्द ईश्वरही प्रसन्न होकर उन्हें दिया करता है तब फिर ईश्वरने विधिनिषेधात्मक या ऐसा करना और ऐसा न करना ऐसी शिक्षा देनेवाले वेदोंको मनुष्योंके लिए बनाया ही क्यों था । अतः हे प्यारे भक्तजी । ऐसे कुकर्मों लोगोंको, जिन कर्मोंका दुखरूपीफल उन्हें फिर भोगना पड़ेगा उन्हीं कर्मोंका यह आनन्दरूपीफल उन्हें ईश्वरसे दिया नहीं जा रहा है ।

और लीजिए, बांसुरीकी सुरीली मीठीतान, और वीणाकी झंकार तथा अनेक प्रकारके अन्यान्य अपने अनुकूल वाद्योंको सुनते साथही मनुष्यही क्यों पशुपक्षीभी स्तब्ध और क्रियाहीन हो जाया करते हैं, वह आनन्द क्या उन्हें ईश्वरही भेजा करता है । तात्पर्य यह कि आस्तिक नास्तिक पशु और पक्षी आदि प्रत्येक जीव, अपने अभिलषित शब्द स्पर्श रूपरस गन्ध नामके विषयोंको प्राप्त करके—आनन्दमग्न होजाता है; तब वह आनन्द क्या उसे ईश्वरही भेजा करता है । जिन विषयोंमें जीवोंको आनन्द

आरहा था, फिर उन्हीं विषयोंमें ग्लानिकरके ये जीव उनका त्यागकर देते हैं—क्या वहां भी ईश्वरही अब उनसे आनन्दको छीन लिया करता है। परन्तु हे भक्तजी, ऐसा मानना अनुभवके सर्वथा-ही विपरीत पड़ता है। क्योंकि जीवोंका ऐसा करना स्वाभाविक-ही है कि एक विषयको, उसमें ग्लानिकरके छोड़ देना और दूसरे विषयमें गुण बुद्धिकरके उसकी प्राप्तिसे आनन्दित हो जाना—ऐसा ही अनुभवमें आरहा है।

भक्तजी। क्या आपने माण्डूक्योपनिषद्की इस श्रुतिको नहीं पढ़ा-है। श्रुति है—“यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तं सुषुप्तस्थान एकी-भूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः”—जहां सोता हुआ किसी कामनाको नहीं करता है और नाहीं किसी स्वप्नको देखता है वह सुषुप्ति अवस्था है, सुषुप्ति स्थानवाला विशेषज्ञान घनीभूत होनेसे जो एकीभूत और घनीभूत है, आनन्द प्रधान होनेसे जो आनन्दमय और उस एकाग्र वृत्तिके द्वारा आनन्दको भोगता है, तथा जो चेतनाका द्वार है वह प्राज्ञ नाम जीव, आत्माका (विश्व और तैजस-की अपेक्षा) तीसरा पाद है। इस श्रुतिके द्वारा यह बताया गया है कि प्रत्येक जीव, सुषुप्तिको आदि और अन्तिम अवस्थामें आनन्दको भोगता है। इस आनन्दमय कोशमें सबके लिए बिना

किसी प्रयत्नके आनन्दकी प्राप्ति होती है ।

भक्तजी । क्या आपने योगदर्शनमें समाधिपादके सूत्र-१७
 “वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्संप्रज्ञातः”— इसको
 पढ़ा या सुना नहीं है । इस सूत्रमें आएहुए आनन्दशब्दका यह
 अर्थ है कि जब साधक अपनी वृत्तिको इन्द्रियोंमें या इन्द्रियोंके
 कारणरूपी अहंकारमें लेजाता है तब वह आनन्दसे भरपूर हो-
 जाता है । लो भक्तजी । ईश्वरका भक्त है या उसका भक्त नहीं-
 है, कोईभी मनुष्य क्यों न हो जब वह इन्द्रियों या इन्द्रियोंके
 कारण अहंकारमें अपनी वृत्तिको एकाग्र करेगा तब वह आनन्द-
 से भर जाएगा । इसप्रकार पीछे कहे गए वेदके मंत्रोंसे तथा अपने-
 अपने अनुभवसे भी जीवका स्वरूप सच्चिदानन्दही सिद्ध होता है ।
 परन्तु आपलोग, जीवके सच्चिदानन्दस्वरूपको स्वीकार नहीं
 कर सकेंगे । क्योंकि आपकी सम्प्रदायके अनुसार, जीवको
 सच्चिदानन्दस्वरूप कह देना और मान लेना अपराध माना जाता-
 है । अतः आप भी संप्रदायी होनेके नाते इस पक्षको स्वीकार नहीं
 कर सकेंगे । आपकी इच्छा, परन्तु पक्षपातसे रहित अन्य सभी
 विचारशील लोग जीवका सच्चिदानन्दस्वरूप अनुभव कर रहे हैं
 और आगे अनुभव करेंगे । जिससे कि उक्त वैदिक मंत्रोंके द्वारा
 सभी जीव, विशुद्ध ब्रह्मसच्चिदानन्दके अंश हैं अतः ये भी सबके-
 सब सच्चिदानन्दस्वरूप ही हैं ।
 इसप्रकार वैदिक ब्रह्म विचारमें अंशांशी ब्रह्म नामवाला सातवां
 प्रकरण समाप्त है ।

८ ज्ञेय ब्रह्म

त्रिपाद विशुद्धसच्चिदानन्दही ज्ञेयब्रह्म है ।

महाप्रलयकी मध्य अवस्थामें सच्चिदानन्दका अनन्तरूपहोनेसे वह चतुष्पाद विशुद्धब्रह्म था । “पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि”—इसका समस्त विश्व एकपादहै और इसका तीनपाद अविनाशी अर्थात् विशुद्धहै । इस यजुर्वेदके पुरुष सूक्तके मंत्रके अनुसार, सृष्टिकालमें उसका एकपाद ईश्वर और जीवनामोंके अंशोंमें विभक्त होगया या बटगया । और वह तीनपादोंसे विशुद्धब्रह्मसच्चिदानन्दही निर्गुण और निराकारहोनेसे ज्ञेयब्रह्म है ।

जिस मनुष्यने वैदिक अग्निहोत्र आदि निष्काम कर्मोंकेद्वारा या फिर अन्य जीवोंकी निष्काम बुद्धिसे किसी प्रकारकी भलाई करनेकेद्वारा अपने अन्तःकरणके मल नामवाले दोषको दूर किया है, मल नाम राग द्वेषका है । फिर उसने आदित्यात्माकी निष्काम उपासनाके करनेसे अपना बुद्धिके विक्षेप नामक दोषको दूर किया है, विक्षेप नाम चित्तकी चंचलताका है । इसके अनन्तर जिसके चित्तमें आवरण नामी तीसरा दोष रहगया है, आवरण नाम अपने स्वरूपको न जाननेका है । वह मनुष्य, मुण्डक उप० के इन मंत्रोंके अनुसार कार्य करे । मुण्डक उप० मुण्डक १ खंड २ मंत्र १२।१३।

“परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमाया-
 न्नास्त्यकृतः कृतेन । तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छे-
 त्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥१२॥ तस्मै स
 विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्त चित्ताय शमान्वि-
 ताय । येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्व-
 तो ब्रह्मविद्याम् ॥१३॥ अर्थ—कर्मसे प्राप्तहोनेवाले
 लोकोंकी परीक्षाकरके ब्राह्मण वैराग्यको धारणकरे, अकृतः
 (नित्यात्मा) कृतेन (कर्मसे सिद्ध) नहीं होता, उसके ज्ञानार्थ वह
 श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके सम्मुख समिधाएं हाथपै लेकरजावे ॥१२॥
 ऐसे समीप आएहुए एवं भलीप्रकार चित्तशांतवाले तथा वशीकृत
 मनवालेकेप्रति जिसप्रकारसे वह अग्निनाशी सत्यपुरुषको जानसके
 उस ब्रह्मविद्याको तत्त्वसे उपदेशकरे ॥१३॥ यह मंत्रोंका अर्थहै ।
 व्याख्या—लो प्यारे मित्रो । मंत्रमें ब्राह्मणशब्दभी आगयाहै—
 जोकि जन्मसे या कर्मकेद्वारा आज विवादास्पदहै या भगड़ेका घर
 बनाहुआहै । क्योंकि कोई इसे जन्मसे और कोई कर्मसे बतारहा-
 है । परन्तु उपनिषदोंमें तथा स्मृतियोंमें तो ब्राह्मण शब्दका तीन
 स्थानोंमें व्यवहार हुआ देखागयाहै । जैसाकि—बृहदा० अ० ३
 ब्राह्मण ८ श्रुति १० ‘य एतदक्षरं गार्गी विदित्वास्मा-
 ल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः’—याज्ञवल्क्यने कहा हे गार्गी

जो मनुष्य, इस अविनाशी आत्माको जानकरके इस देहसे ऊपर उठजाताहै अर्थात् इस शरीरमें आत्मबुद्धिका त्यागकरके इसमें राग नहीं करताहै वह ब्राह्मणहै । इस श्रुतिमें तो ब्राह्मण शब्द ब्रह्मज्ञानीके विषयमें व्यवहृत हुआहै । भगवद्गीता अध्याय २ श्लोक ४६ “यावानर्थ” इसमेंभी ब्राह्मणशब्द ब्रह्मज्ञानीके लिये प्रयुक्त हुआहै । स्मृतियोंमें जहांपर ब्राह्मणकेलिए अध्ययन अध्यापन आदि छे कर्म बताएहैं वहांपर ब्राह्मण शब्द वेदवेत्ताके विषयमेंहै । परन्तु उक्त मंत्रमें ब्राह्मण नाम ब्रह्माजिज्ञासुका-है । अर्थात् ब्रह्मकोजाननेकीइच्छावालेमनुष्यको उचितहै कि वह शुभ कर्मकेद्वारा प्राप्तहोनेवाले इसलोक और ब्रह्मलोकतकके भोगोंकी परीचाकरे । परीक्षा यहीहै कि सभी विषयभोग अन्त-वालेहोनेसे अनित्यहैं । इसप्रकारकी विचारकरके उनमें ग्लानिकरे और उनके प्राप्तकरनेकी इच्छाको त्यागदे ।

जिससेकि प्रत्येक जीव, यही चाहताहैकि मैं सदाही बना-रहुं ऐसा न हो मैं कभी न रहूं, इससे आत्मा सत् रूपहै । कारण-कि प्रत्येक जीवकी यही अभिलाषाहै कि मैं सदा ज्ञानवान् बना रहूं, ऐसा न हो कि मैं कर्मा अन्धतममें चलाजाऊं । इसीसे आत्मा चित् रूप या चैतन्यरूपहै । क्योंकि प्रत्येक जीवको यही वांछितहै कि मुझे सदैव आनन्द बनारहे और प्रत्येक जीवका आनन्द प्राप्त करनाही पुरुषार्थहै—इसीसे आत्मा या सबका

अपना आप आनन्दरूप है । इसप्रकार प्रत्येक जीवका आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है । इसीसे प्रत्येक जीव अपने सच्चिदानन्दरूप आत्माकी ओर जा रहा है । ऐसेतो शोक मोह आदि तथा इनसे उत्पन्न होनेवाले दीनता घृणा आदि दुखरूपभी आत्माके ही विवर्तन हैं । क्योंकि सच्चिदानन्द आत्मा सर्वरूप है । तोभी ये सब जीवको अभोष्ट नहीं हैं । इसीसे ये सब आत्माके वास्तविक रूप नहीं हैं । ऐसेतो शब्दादि विषयोंमेंभी सत् चित् आनन्द रूपता अनुभवमें आ रही है तोभी वह स्थायी नहीं है किन्तु आगमापायी है । इसीसे ब्रह्माजिज्ञासुको समस्त विषयोंसे वैराग्य होना चाहिए । और इनके प्राप्तिकरनेकी इच्छाको त्याग दे । यह समझे कि आत्मा तो अकृत है अर्थात् नित्य होनेसे किसी कर्मका फल नहीं है । तो फिर कर्म करनेसे इसे क्या लाभ होगा । क्योंकि कर्मका उपयोग चारही प्रकारका है । किसी वस्तुकी उत्पत्ति करना तथा किसी वस्तुको प्राप्त करना एवं किसी वस्तुको शुद्ध करना और किसी वस्तुको बदल देना, ऐसे चार प्रकारकाही कर्मका फल होता है । परन्तु ब्रह्मात्मा तो नित्य है, अतः इसकी उत्पत्तिकरनी नहीं बनती है । और यह अपनाही स्वरूप है, इससे इसको प्राप्तकरनाभी नहीं बनेगा तथा यह वास्तवमें शुद्ध है अतः इसका संस्कार करनाभी नहीं बनेगा एवं यह निर्विकार है, अतः इसमें परिवर्तनभी कुछ नहीं किया जा सकेगा । इसलिए इसमें किसी कर्मकी सहायता लेनी नहीं बनती है ।

इसका तो केवल जाननाही बनताहै । इसलिये जिज्ञासुको चाहिये कि वह आत्माकी जिज्ञासासे, श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके समीप-जाए । वेद शास्त्रोंके अध्ययन करनेवालेका नाम श्रोत्रियहै । अतः गुरु श्रोत्रिय होनाचाहिये । ऐसा गुरु न हो जोकि विवेक विराग वेदान्त और सिद्धान्तके स्थानमें, ववेक वराग वदान्त और सधांत ऐसे अशुद्धशब्द उच्चारण करनेवालाहै । देखोजी, वह शम आदि ज्ञानके साधनोंसे सम्पन्नहोकर ज्ञानप्राप्तिके-द्वारा अपनी तो कल्याण करसकताहै । परन्तु यदि शिष्य तर्क-शील और बुद्धिमानहै तो वह उसके प्रश्नोंका उत्तर देनेमें अस-मर्थहै । देखोजी, किसी व्यक्तिने केवल अपनेलिएही भोजन बनायाहै—वहां फिर आपभी चौकेमें विराजमान होजाएंगे तब तो उसको लज्जितही होना पड़ेगा, ऐसा क्यों करनाहै । अतः श्रोत्रिय गुरुके पास जाना चाहिये । गुरुका दूसरा विशेषणहै ब्रह्मनिष्ठ, अतः वह ब्रह्मनिष्ठ अर्थात् ब्रह्ममें निष्ठा नाम स्थिति-वाला होनाचाहिये । यदि गुरु ब्रह्मनिष्ठ न होकर केवल श्रोत्रियहै तबतो शिष्यको उससे शिष्टाचार प्राप्त नहीं होसकेगा । क्योंकि उसने तो विद्याको विवेकचूड़ामणि पुस्तकके—

वाग्वैखरी शब्दभरी शास्त्रव्याख्यान कौशलम् ।

वैदुष्यं विदुषां तद्वत् भुक्तये न तु मुक्तये ॥६०॥

इस श्लोकके अनुसार, भोगोंपरही समाप्त करदियाहै । श्लोकका

अर्थ यह है कि उच्चस्वरसे शब्दोंकी झड़ी लगा देना तथा शास्त्रों के व्याख्यानमें अत्यन्तही कुशल होना अर्थात् एकही श्लोकका कई दिनतक व्याख्यान करते रहना—ऐसेही विद्वानोंके बीचमें अपनी विद्वत्ता दिखाना यानी शास्त्रार्थमें सबको परास्त कर देना, यह सब कुछ भोगके लिए ही है, मुक्तिके लिए नहीं है, अर्थात् मनुष्य यदि ब्रह्मनिष्ठ नहीं है तो यह विद्या भोगोंके लिए ही है—इसका मोक्षके साथ कुछभी सम्बन्ध नहीं है। अतः गुरु ब्रह्म-निष्ठ होना चाहिये। देखोजी।

अकृत्वा शत्रुसंहारमगत्वाखिल भूश्रियम् ।

राजाहमिति शब्दान्नो राजा भवितुमर्हति ॥६६॥

विवेक० के इस श्लोकद्वारा, जिस मनुष्यने शत्रुका विनाश नहीं किया है और सम्पूर्ण राज्यलक्ष्मीको प्राप्त नहीं किया है—वह मनुष्य अपनेको मैं राजा हूँ ऐसा कहनेसे वह राजा नहीं हो सकता है।

अकृत्वा दृश्यविलयमज्ञात्वा तत्त्वमात्मनः ।

बाह्यशब्दैः कुतो मुक्तिरुक्तिमात्र फलैर्नृणाम् ॥६५॥

ऐसेही। जिन्होंने दृश्यका विलय नहीं किया अर्थात् जिनके मनमें शत्रु मित्र मान अपमान स्तुति निन्दा हर्ष और शोक आदि, पत्थरमें रेखाके समान स्थायी होकर रहते हैं और आत्माके वास्तविक स्वरूपको अनुभव नहीं किया है ऐसे मनुष्योंकी “अहं-ब्रह्मास्मि” मैं ब्रह्म हूँ ऐसे वाचकपात्र शब्दोंके कथनसे मुक्ति कैसे

होसकती है उन शब्दोंका तो केवल कथनमात्रही फल है अर्थात् ऐसे शब्दोंका मुक्ति रूपी फल नहीं है । अतः गुरु केवल श्रोत्रियही नहीं किन्तु ब्रह्मनिष्ठभी होना चाहिये ।

गीतामें ब्रह्मनिष्ठकोही स्थितप्रज्ञके नामसे पुकारा गया है । अतः उसमेंसेभी ब्रह्मनिष्ठके लक्षणोंको अवश्य जान लेना चाहिये । भगवद्गीता अध्याय २ श्लोक ५६ दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः”

इसके अनुसार जो मनुष्य, शरीरमेंही उत्पन्न होनेवाले ज्वर आदि अध्यात्म दुःख तथा बाहरसे आनेवाले सर्प चोर आदिकेद्वारा अधिभूत कष्ट एवं बाहरसेही आनेवाले अतिवृष्टि और अनावृष्टि आदि अधिदैव दुःख इन तीनों प्रकारके दुःखोंके प्राप्त होनेपर हाय हाय नहीं करता है और तीनों प्रकारके सुखोंको प्राप्त करनेकी जिसकी इच्छा नहीं है—अर्थात् जो दुःख और सुखकी प्राप्तिमें समान बुद्धिवाला है एवं राग भय और क्रोधसे रहित है ऐसे वास्तविक मूर्तको लोग, स्थितप्रज्ञ या ब्रह्मनिष्ठ कहते हैं ।

गीताजी सर्वत्र प्रसिद्ध ही है, अतः इसके श्लोकोंको यहां प्रतीक रूपसे दिया गया है और दिया जायेगा । देखोजी, ब्रह्मनिष्ठका उक्त यह लक्षण, स्वसंवेद्य यानी अपनेसेही अपने आपको जानना नहीं है, किन्तु यह लक्षण परसंवेद्य यानी दूसरों करके जाननेके योग्य है । इसके अनुसार यदि श्लोकमें कहा गया ब्रह्मनिष्ठका लक्षण उसमें पाया जाता है तबतो वह ब्रह्मनिष्ठ है, अन्यथा वह ब्रह्मनिष्ठ नहीं है । अतः शिष्यको उसकी भलीभांति परीक्षा

करलेनी चाहिये ।

गीता अध्याय १३ श्लोक ७ “अमानित्वम्”—इसके अनुसार, ब्रह्मनिष्ठको मानसे यानी अपनेमें उत्कृष्ट बुद्धिकरना इससे रहित होना चाहिये । देखोजी, यह मानही बहुत बड़ा संक्रामक रोग है, इससे पार पाजाना अत्यन्तही कठिन काम है । इस मानकी प्राप्तिके लिए कोई मनुष्य तो विद्याको पढ़ता है । कोई मौन धारण करता है कोई अन्नको त्याग देता है । कोई अग्निसे तपता है । कोई जलधारा करता है । कोई चान्द्रायणव्रत आदि करता है । कोई खड़ा हो रहता है । कोई नाचता है । कोई गाता ही है कोई व्याख्यानही करता है । इसप्रकारके अन्य कई साधनों—द्वारा मान प्राप्त करता है, तथा अन्य कोई व्यक्ति, किसीकी इसप्रकारके साधनोंद्वारा मान प्राप्ति देखकर आपभी वैसे साधन करने लगता है । इसप्रकार यह मान बहुत बड़ा संक्रामक रोग यानी छूतकी बीमारी है । अतः ऐसा मान ब्रह्मनिष्ठमें नहीं होना चाहिये । दंभ नाम इसका है कि जो वस्तु किसी व्यक्तिमें वास्तवमें नहीं है, परन्तु वह बाहरी ढोंगसे उसे बनाकर दिखाता है । जैसा कि आज बुद्धिहीन लोग, ऊटपटांग गालियाँ बकने वाले व्यक्ति को सिद्ध है ऐसा कहने लग जाते हैं, परन्तु सिद्धि उसमें सर्वथाही नहीं होती है । लोग, केवल अपनीही अन्धश्रद्धासे उसे सिद्ध बना देते हैं । इसप्रकार कोई दंभ या ब्रह्मनिष्ठाका दंभ ब्रह्मज्ञानीमें नहीं होना चाहिये । स्वाथकेलिये मन वाणी तथा

शरीरसे किसीको पीड़ा न दे ऐसा अहिंसक तथा सहनशील और सरलस्वभाव होना चाहिये। अपने ज्ञानोपदेष्टा गुरुका भक्त हो। ऐसा न हो कि वह कहीं ब्रह्मनिष्ठाके अभिमानमें आकर गुरुको भी सर्वसाधारण मनुष्योंकी भान्ति समझने लगे या गुरुको भी मिथ्या बतानेवाला बनजाए। अतः वह ब्रह्मनिष्ठ, गुरुभक्त होना चाहिये। तथा वह जल मृत्तिका आदिसे शरीरको भी साफ शुद्ध रखनेवाला हो, और स्थिरतावाला हो, अर्थात् धैर्यवान होना चाहिये। और वह मनके निरोधवाला हो। देखोजी, आज देखनेमें और सुननेमें भी बहुधा आरहा है कि बड़े बड़े लेखक, बड़े बड़े व्याख्यानदाता और प्रसिद्ध योगी तथा ज्ञानयोगि भी प्रायः सर्व संमान्य होतेहुए भी एकांतमें बैठकर मनकी चंचलतासे दुखी होकर उसकी स्थिरताके लिए रोया करते हैं। अतः ब्रह्मनिष्ठका आत्मविनिग्रही होना आवश्यक है। यदि ऐसा नहीं है तबतो दृढ़ विश्वास करो कि इसने ईश्वरकी उपासना करके मनके विक्षेपकी निवृत्ति नहीं की है।

श्लोक ८ “इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्” इसके अनुसार, ब्रह्मनिष्ठकी इंद्रियोंके शब्द स्पर्श रूप रस और गंध नामके विषयोंमें विरक्ति होनी चाहिए; किसी भी शब्द आदि विषयके वशीभूत नहीं होना चाहिये; और उसमें अहंकार होना नहीं चाहिये। देखोजी वर्तमानमें अपनेको ब्रह्मनिष्ठ माननेवाले लोग, किसी व्यक्तिके प्रणाम न करनेपर या बिना कुछ भेंट चढ़ाए कोई प्रश्न कर देने-

पर लाल नेत्र तथा मूर्तिमान क्रोधके रूपमें वन बैठते हैं । वे समझते हैं कि “कोऽन्योस्ति सदृशो मया” मेरे समान दूसरा कौन है—इस राक्षसी ज्ञानके कारण अपनेको प्रणाम करने-वाले व्यक्तिकी सदा प्रतीक्षा किया करते हैं । उनका ऐसा आसुरी ब्रह्मज्ञान, उनकी ब्रह्मनिष्ठाका द्योतक या जितलानेवाला नहीं है । इसलिए उसमें अहंकार होना नहीं चाहिये । और उसको जन्ममें मृत्युमें जरामें तथा व्याधिमें अनेक प्रकारके दुःख और दोष देखते रहना चाहिए । अर्थात् वह ऐसा ही करता है ।

श्लोक ६ “असक्वितरनभिष्वंगः”—इसके अनुसार ब्रह्मनिष्ठ का, पुत्र दारा या स्त्री गृह आदि किसी भी वस्तुमें राग या लगाव नहीं होना चाहिये । देखोजी, कोई २ वेपधारी संन्यासी भी वर्तमानमें अपने कुटुम्बकी चिन्तामें मग्न हैं और अपने पुत्र आदि परिवारके लिए सम्पत्ति बना चुके हैं और बनारहे हैं । ब्रह्मनिष्ठ तो दूर रहा वह तो संन्यासी ही नहीं रहा है—जिसका अपने परिवारमें राग या मोह हो गया है । अपनेको ब्रह्मनिष्ठ माननेवाले अन्य कई संन्यासी, मठ और मकान बनारहे हैं । परंतु उनका ऐसा करना सभी धर्मशास्त्रोंके विपरीत कर्म है । क्योंकि सभी धर्मशास्त्रोंमें, कुटीचक्र बहूदक्र हंस और परमहंस नामके चारों संन्यासियोंमें केवल “पुत्रान्नजीवी कुटीचक्रः”—पुत्रके अन्न पर निर्वाह करने-वाला जो कुटीचक्र संन्यासी है—उसीके लिए अपने ग्रामके बाहर कुटिया बनाकर एकत्रवास करनेका उल्लेख है, परंतु अन्य

किसीभी संन्यासीकेलिए बिना चातुर्मास्यके एकस्थानमें रहनेकी आज्ञा नहींहै । जोकि अपने या अपने शिष्योंकेलिए मठ मकान बनानाहै यह उनपर उपकार करना नहींहै, किंतु उनका अपकार करनाहै । उनके साथ अन्याय करनाहै । उन मुमुक्षुओंको भोगी बनाकर मोक्षसे दूर करनाहै । समयके अनुसार यदि ऐसाही मानलियाजाए कि धर्म प्रचारकेलिए मठ मकानोंका होना आवश्यकहै-जिनमें संन्यासी लोग निवासकरें, तोभी यह सब कुछ गृहस्थियोंद्वाराही होनाचाहिये, संन्यासियोंकेद्वारा नहीं । क्योंकि धर्मशास्त्रोंमें संन्यासीको किसीभी मठ और क्षेत्र आदिका प्रबंधक होना वर्जितहै । दूसरी बात यह है कि उनको न्यायालयोंमें तुच्छसे तुच्छ न्यायाधीशोंकी शरणमें जाना पड़ताहै-जोकि अपनेको स्वामी माननेवाले संन्यासियोंकेलिए वह लज्जाका कारण एवं महापापका फलहै । वर्तमानमें, उदासी नाथ वैरागी आदि नामवाले सभी संप्रदायोंके विरक्तिका वेष धारण करनेवालेलोग, संन्यास आश्रममेंही मानने पड़ेंगे । क्योंकि मनुस्मृति आदि सभी धर्मशास्त्रोंमें, ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ और संन्यास, इन चारों आश्रमोंसे भिन्न, न तो कोई उदासीन आदि नामवाला पांचवां आश्रमही लिखागयाहै और न उनके लिए किसी कर्तव्याकर्तव्यकाही वर्णन पाया गयाहै । अतः ये सब लोग, संन्यास, आश्रमकेही अन्तर्गतहैं । इससे किसी प्रकार के भी ब्रह्मनिष्ठ संन्यासीका तथा वानप्रस्थका पुत्र और गृह

आदिमें राग नहीं होना चाहिये । यदि ब्रह्मनिष्ठ गृहस्थीहै तो उसके लिए पुत्र आदिकोंका त्याग संभव नहीं है, परन्तु उसका पुत्र आदिमें अन्तःकरणसे राग नहीं होना चाहिये । ब्रह्मनिष्ठको इच्छित वस्तुकी प्राप्तिमें और अनिष्ट वस्तुमें समचित्तवाला होना चाहिये । अर्थात् ज्ञेयके आधीन ज्ञान होता ही है, अतः क्षणभङ्गके लिए हर्ष शोक होना चाहिये ।

श्लोक १० “मयि च” — ब्रह्मनिष्ठकी ईश्वरमें दृढ़ अभेद भक्ति और बाहरसे उसमें दास बुद्धि होनी चाहिये । देखोजी, वर्तमानमें, अपनेको ब्रह्मनिष्ठ बतानेवाले मिथ्याभाषी तथा लेखों-द्वारा और भाषणोंद्वारा रूपया बटोरनेवाले लोग, निःस्वार्थ परमदयालु ईश्वरको भी मिथ्या बताने लगते हैं, परन्तु यह कृत-घ्नता है, अतः उसे ईश्वर भक्त होना चाहिए । ब्रह्मनिष्ठको एकांत सेवी होना चाहिए । तथा जनसंसदि नाम-मेलेमें अरुचि होनी चाहिये । देखोजी, वर्तमानमें, गृहस्थीही क्यों अपनेको ब्रह्मनिष्ठ बतानेवाले संन्यासी लोगोंका भी मन, मेलेसे बिना नहीं लगता-है—इसीसे ये लोग किसी न किसी प्रकारसे मेला बना रहे हैं—इससे दृढ़ विश्वास करनेना चाहिए कि ऐसे लोगोंने ईश्वर भक्ति नहीं की है । इसीसे इनको ब्रह्मानन्दका अनुभव नहीं हुआ है । अतः ये लोग, अपना मन बहलानेको मेला बुला रहे हैं, परन्तु ब्रह्मनिष्ठको मेला एकत्र करनेके लिए अपने आप कोई साधन नहीं बनाना चाहिये ।

श्लोक ११ “अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्०” इसके अनुसार ब्रह्मनिष्ठको, निदिध्यासनशील और आत्मसाक्षात्कारसे सम्पन्न होना चाहिये। ये ज्ञानके साधन कहे गए हैं और जो इनके विपरीत हैं वे अज्ञानके साधन हैं। देखोजी, आज कोई व्यक्ति, जिस श्लोक या मंत्रको बड़े परिश्रमके साथ रट रहा है वही श्लोक या कोई मंत्र आदि कुछ भी क्यों न हो, कुछ दिनोंके बाद उसके कंठस्थ हो जाता है, फिर वह उसके मुखसे स्वाभाविक ही निकलने लगता है उसे कुछ भी परिश्रम नहीं करना पड़ता है, यह दृष्टांत प्रत्येक कामके लिए समझना चाहिए। इसी प्रकार जिन अमानित्व या शम आदि साधनोंको साधक या जिज्ञासु आज, बड़े यत्नसे कष्ट उठाकर कर रहा है वे ही शमदम आदि साधन कुछ दिनोंके अनन्तर उसीके लक्षण बन जाते हैं और वही साधक उनसे सिद्ध या ब्रह्मनिष्ठ कहा जाता है। अतः ये सब साधन, जिज्ञासुको ब्रह्मनिष्ठ होनेके लिए अवश्य करने चाहिए। देखोजी, यह कोई अमरीकाका इंजीनियर तो नहीं है जोकि भारतमें बिजली फिट करनेके लिए बुलाया जाएगा। यह तो यहाँका ही जिज्ञासु है जोकि शम आदि साधनोंको करता हुआ किसीदिन ब्रह्मनिष्ठ बन जावेगा। अतः इस प्रकारके लक्षण ब्रह्मनिष्ठमें अवश्य होते हैं और होने चाहिए। यही ब्रह्मनिष्ठ या ब्रह्मज्ञानीकी पहचान है।

ब्रह्मज्ञानी निषिद्ध आचरण नहीं करता। क्योंकि पंचदशीके द्वैत विवेक प्रकरणमें श्लोक ५५ में ऐसा कहा है—

बुद्धाद्वैतस्य तत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि ।
 शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे ॥

अद्वैत स्वरूपब्रह्मको जाननेवाले ज्ञानीका यदि यथेष्टाचरण या मनमाना आचरण होगा, तो वह अशुचिपदार्थोंका भी सेवन करने लगेगा, ऐसा होनेपर कुत्तोंकी और तत्त्वज्ञानियोंकी कोई विशेषता नहीं रहेगी अर्थात् ऐसे तत्त्वज्ञानियोंको कुत्तोंके समान समझना चाहिए । ग्रन्थोंमें जहां कहींपर ज्ञानीको निषिद्धाचरणमें अवकाश दिया है वहांपर वे वचन, केवल ज्ञानकी प्रशंसाकेलिये कहेगये हैं, किंतु वर्तावकेलिये नहीं हैं । यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो उन्हीं ग्रन्थोंमें “यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः” जैसा जैसा आचरण बड़ा मनुष्य करता है वैसा २ ही आचरण छोटा मनुष्यभी करता है इसप्रकारके कहेहुए सब वाक्य, शिष्टाचारके आदर्शरूप मनुष्यके अभावमें व्यर्थ होजावेंगे । इसलिए ज्ञानीका अष्ट अचारण नहीं होता है । इसप्रकार यह श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुका लक्षण कहागया है । उक्त मंत्रमें जो “समित्पाणिः” ऐसा वाक्य आया है उसका अर्थ है कि जब जिज्ञासु, श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके समीप जावे तो उसके हाथमें समित् अर्थात् पलाशवृक्षकी सूखीहुई छोटी छोटी लकड़ियां होनी चाहिए । क्योंकि वे समिधाएं गुरुजीके अग्निहोत्र कर्मकेलिए काम आवेंगी । देखोजी, उपनिषदोंमें जहां तहां शिष्यकेलिए “समित्पाणिः” ऐसाही वाक्य

प्रयुक्त हुआ है- इससे ज्ञात होता है कि पूर्वसमयमें ब्रह्मविद्याके आचार्य, अग्निहोत्री गृहस्थीही हुआ करते थे । संन्यामियोंका कोईभी नियत स्थान न होनेसे उनके गुरु बनानेमें उपनिषदों तथा स्मृतियों तथा अमां प्रदायिक पुराणोंमें कोई ऐसी समित्पाणिः जैसी अन्य कोई विधि नहीं पाई गई है । पुराणोंमें जहां कहींपर, जड़भरत आदिकेद्वारा किसीको ज्ञान देनेकी चर्चा आई है- वहांपर कोई विधि नहीं देखी गई है । उन्होंने केवल चलते फिरते ही जिस किसीको ज्ञानोपदेश कर दिया है । “समित्पाणिः” वाक्यका यह भी अभिप्राय है कि पूर्वकालमें ब्रह्मविद्याके गुरु लोगों का, विद्या प्रदान करना व्यापार नहीं था- वे उसके द्वारा अपना जीवनयापन नहीं किया करते थे । वे तो स्वधर्मसे न्यायोपाजित धनके द्वारा अपना जीवन निर्वाह किया करते थे । वे बिना ही किसी अपने स्वार्थके अधिकारीको ज्ञानोपदेश दिया करते थे । राजा जनकने याज्ञवल्क्यके द्वारा अपने प्रश्नोंका उत्तर सुनकरके अतिहर्षित तथा तृप्त होते हुए गद् गद् वाणीसे उनको कहा कि हे भगवन्, आप इस राज्यको संभालो और मैं आपकी सेवा दासवनकर करूंगा । ऐसा सुनते ही याज्ञवल्क्यने कहा कि नहीं ऐसा नहीं हो सकता । ब्रह्मज्ञानका विक्रय नहीं होता । इसके प्रतीकारमें मैं आपसे कुछ भी नहीं लूंगा । क्योंकि याज्ञवल्क्यजी वास्तवमें ही ब्रह्मनिष्ठ थे । यह आख्यायिका बृहदा० उपनिषद्-में है । दूसरी बात यह कि नाहीं ऐसा धर्मशास्त्रोंमें कहींपर देखने

में आया है कि ब्रह्मज्ञानके उपदेशद्वारा किसी गुरुने किसी शिष्य-
 का सर्वस्व लेलिया हो । परन्तु अब तो कोई व्यक्ति, अग्निहोत्री
 ब्रह्मनिष्ठ गुरुही नहीं है, यदि अग्निहोत्री है तो वह ब्रह्मनिष्ठ नहीं-
 है । प्रायः ऐसा कोई व्यक्ति देखनेमें नहीं आ रहा है । कोई एक
 होगा । अतः अब समिधाएं किसके पास ले जाए । इससे गुरु-
 की शरणमें जानेवाला जिज्ञासु, कुछ न कुछ पत्र पुष्प फल
 आदि अपनी योग्यताके अनुसार हाथमें लेकर जाए किन्तु खाली
 हाथ नहीं जावे । देखोजी, गुरुसे किमी ग्रामका मार्ग का रेल
 गाड़ीका टायम या किसी व्यापार आदिका प्रकार तो पूछने
 नहीं जाना है । उससे यो अमूल्य निधि ब्रह्मविद्याको ग्रहण करना
 है-इससे रिक्त हाथ या खाली हाथ जाना उसके पास उचित
 नहीं है । मेरे द्वारा लिखी हुई यह वैदिकब्रह्म विचार नामकी पुस्तक
 आपको ज्ञान देनेमें बहुत सहायक बनेगी, तोभी पुस्तकें मृतगुरु-
 होती हैं इनसे मनवांछित समाधान नहीं मिलता । इसलिए ज्ञान-
 को जीवित गुरुकी शरणमें जाकरही ग्रहण करना चाहिए । ऐसी
 ही प्रणाली देवताओं ऋषियों और मनुष्योंमें उपनिषदोंद्वारा
 देखी गई है । “समित्पाणिः” वाक्वका अर्थ हो चुका । मंत्रमें
 “तस्मै” इस पदसे कहा गया ब्रह्मनिष्ठ विद्वान्का जो शिष्यके
 प्रति कर्तव्य, अब उसपर ध्यान देना चाहिए । विद्वानको चाहिए
 कि वह उसके प्रति नहीं, जोकि दूरसेही पत्र व्यवहारकेद्वारा ज्ञान
 प्राप्त करना चाहता है, किन्तु उस शिष्यके प्रति, जो शिष्य

पासमें आयाहुआहै । तथा उसके प्रति नहीं, जोकि भलीप्रकारसे शान्त चित्तवाला नहीं, परन्तु उस शिष्यके प्रति जोकि पूर्णरीतिसे शांत मनवालाहै । और उसके प्रति नहीं, जोकि नाना प्रकारकी पुत्र या धन आदिकी प्राप्तिरूप कामनाएं मनमें रखनेहुए अपनी शरणमें आयाहै । पर उस शिष्यके प्रति, जोकि इस लोक और स्वर्गलोक तथा ब्रह्मलोकके भोगोंकी इच्छावाला नहीं- है अर्थात् जोकि विवेक वैराग्य शम आदि साधन संपत्ति और मुमुक्षुता इन चारों ज्ञानके साधनोंसे युक्तहै । उस शिष्यके प्रति ब्रह्मविद्याको वास्तविकतासे कहना चाहिए, जिस विद्यासे वह अविनाशी सत्यपुरुष परमात्माको जानले । इस प्रकार इन उक्त मुण्डक० के २ मंत्रोंकी व्याख्या होचुकीहै । परन्तु वास्तवमें देखाजाए तो व्याख्या नहीं हुईहै । क्योंकि अभीतो ब्रह्मविद्या का आरम्भ गुरुकेद्वारा किया जाएगा, उसका प्रारम्भ इसप्रकार- है । एकपाद सगुणब्रह्ममें तो जिज्ञासु बैठाही हुआहै । अब इसने त्रिपाद विशुद्ध निर्गुणब्रह्म ज्ञेयके साथ अभेद लाभ करनाहै । जिससे कि वह सत्यज्ञानानन्द, उपास्य तथा प्राप्य ब्रह्म न होकर ज्ञेयब्रह्महै-इससे उसकी उपासना और प्राप्ति संभव नहींहै । अतः उसका तो केवल ज्ञान या जाननाही बनताहै । उसका ज्ञान विचारकेद्वारही होसकताहै । अतः वह विचार गुरुकेद्वारा आरम्भ कीजातीहै । तैत्तरीय० में ब्रह्मानन्दवल्लीके आठवें अनुवाकमें श्रुति—“स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स

एकः”—वह जो इस पुरुषमें है और जो उस आदित्यमें है वह दोनोंमें एक है । तैत्तरीय० में भृगुवल्लीके दश अनुवाकमें श्रुति—
 “स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः” वह जो इस पुरुषमें है और जो उस आदित्यमें है वह दोनोंमें एक है । यह श्रुतियोंका अर्थ है । इन श्रुतियोंमें यह बताया गया है कि जो सत्यज्ञानानन्द ब्रह्म, इस उपासक जीवमें है, वही वस्तु उस आदित्य उपास्य देवमें है । अब विशेषरूपसे देखना है कि इस पुरुषमें क्या है और उस आदित्यमें क्या है ।

जो सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणसे आवृत है वह, मलिन सत्त्वगुणप्रधान कहलाता है—मलिन सत्त्वगुणप्रधान बुद्धिवृत्तिके सहित सच्चिदानन्दका नाम जीव है । यह पुण्यपापका करता तथा उसके फलरूप सुखदुःख का भोक्ता और अल्पज्ञ आदि धर्मों-वाला है । इतनी सामग्री तो अयं पदके वाच्य पुरुषनामी जीवमें है । जो सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणको आप आवृत कर ले वह सत्त्वगुण, शुद्ध सत्त्वगुणप्रधान होता है । शुद्ध सत्त्वगुणप्रधान-मायावृत्ति के सहित सच्चिदानन्दका नाम ईश्वर है । वह आकाश आदि पांच स्थूलभूतोंकी सृष्टि करनेवाला सर्वज्ञ सर्वशक्तिमत्ता आदि धर्मोंवाला है । इतनी सामग्री असौपदके वाच्य आदित्यनामी ईश्वरमें है ।

ऊपरमें कही गई दोनों श्रुतियोंने जो इस पुरुषमें है और जो उस आदित्यमें है वह एक है—ऐसा कहते हुए जीव और ईश्वर इन दोनों-

की एकता प्रतिपादनकी है । परन्तु जो शुद्ध सत्त्वमयी इच्छा तथा प्रचंड प्रकाशमयरूप, सर्वज्ञ सर्वशक्तिमत्ता आदि धर्म आदित्य-ब्रह्म ईश्वरमें हैं वे ही धर्म क्या मलिनसत्त्वगुणप्रधान त्वकमांसा-स्थिमयशरीरि अल्पदृष्टि अल्पज्ञ तथा सामान्यशक्ति आदि धर्म-वाले पुरुष नामी जीवमें हैं । जीवमें तो ईश्वरके उक्त ये धर्म नहीं हैं । यह तो प्रत्यक्षमें विरोध है तब फिर इन परस्पर विरोधि धर्मवालों-की एकता कैसे होसकती है । श्रुतियां इनकी एकता कथन करती हैं । परन्तु विरोधि धर्मवाले होनेसे इन दोनोंकी एकता बनती नहीं है । इन श्रुतियोंको चरितार्थ करनेकेलिये यहां भागत्याग-लक्षणाको स्वीकार करना चाहिए । दोनों भागोंमेंसे विरोधि एक २ भागके त्याग देनेका नाम भागत्यागलक्षणा कहीजाती है । उसका उदाहरण इसप्रकार समझना चाहिए । जैसे किसी मनुष्यने किसी व्यक्तिसे कहा कि वह जो कुछ इस द्वारपालमें है और जो कुछ उस राजामें है वह एक है । उस सत्यवक्ताके मुखसे ऐसा सुनतेही वह व्यक्ति भ्रममें पड़ गया । उसने विचार किया कि इस द्वारपालमें वह राज्यशक्ति कहा है । राजा तो जोभी चाहे वही करमता है । यह उसका दास है उसकी समतामें यह नहीं होसकता है । ऐसा विचारकर उसने कहा कि भगवन्, मेरी बुद्धिमें द्वारपाल और राजाकी एकता नहीं बैठती है । तब उस सत्यवक्ताने कहा कि द्वारपालभी मनुष्य है और राजाभी मनुष्य-है । अवतो इनकी एकतामें कुछ अन्तर नहीं है । जिज्ञासुने फिर

उससे कहा कि इससे भी इनकी एकता नहीं बनती है । क्योंकि यह द्वारपाल ही है । सब लोग, इसे द्वारपाल ही पुकारा करते हैं, मनुष्य तो इसे कोई भी नहीं कह रहा है । राजा को भी सभी लोग राजा ही कहते हैं उसे मनुष्य तो कोई भी नहीं कह रहा है । इसीलिए इनकी यह एकता गौणीसी एकता है, परन्तु यह इनकी एकता कीमत वाली मुख्य एकता नहीं है । तब उस दयालु मनुष्य ने कहा कि युं करो—इन दोनों में जो भी अंश इनकी एकता के विरोधि हैं उन भागों को त्याग दो । तात्पर्य यह है कि राज्य नरेन्द्रस्य भट्टस्य खेटकस्तयोरपोहे न भटो न राजा । विवेक चूड़ा मणिके इस श्लोकानुसार, द्वारपाल में से उसके वेष को और खड़ग आदि शस्त्रों को उससे अलग कर दो, उसका एक भाग मनुष्य शरीर रहने दो, ऐसे ही राजा में से उसकी छत्र चामर आदि राज्य सामग्री अलग की जाए और एक भाग उसका मनुष्य शरीर रखा जाए तब तो वह राजा और वह द्वारपाल नहीं कहा जाएगा । तब तो मनुष्यत्व में उनकी एकता में कोई बाधा नहीं रहेगी । तब जिज्ञासु ने मान लिया कि यह इनकी निरुपाधि एकता वास्तव में ही मुख्य एकता है । गुरु ने कहा कि इसीका नाम भागत्यागलक्षणा है । श्रुतियों ने इसी लक्षणावृत्तिके द्वारा जीव और ईश्वर इन दोनों की एकता, दोनों में से विरोधि भागों का निषेध करके ही बतलाई है ।

बृहदारण्यक० अध्याय २ ब्राह्मण ३ "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च" ब्रह्म के दो रूप हैं; एक मूर्त है और दूसरा

अमूर्त है । इसके आगे श्रुति ने तेज जल और पृथ्वी इनको मूर्त बताया है तथा आकाश और वायु को अमूर्त बताया है । मूर्त का सार “य एष तपति” जो यह तपनेवाला सूर्यमण्डल है और अमूर्त का सार “य एष एतस्मिन्मंडले पुरुषः” — जो यह इस मण्डल में पुरुष है ऐसा कहा है । यह देवता में ब्रह्म का रूप कहा है । “अथाध्यात्मं” — अब अध्यात्म कहा जाता है कि मूर्त का सार यह जो पुरुष का दाहिना नेत्र है और अमूर्त का सार “योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः” — जो यह दाहिने नेत्र में पुरुष है । यह श्रुतियों का अर्थ है । इस प्रकार ब्रह्म का सर्वसाधारण जीवों में मनुष्य रूप सबसे उत्तम है, तथा ब्रह्म का ही उच्चकोटि के ब्रह्मा विष्णु तथा शिव आदि देवताओं में सर्वश्रेष्ठ सबसे बड़ा सविता या सूर्य रूप है । सच्चिदानन्द ब्रह्म के ये ही दोनों रूप, ईश्वर और जीव के नाम से व्यवहृत होते हैं या कहे जाते हैं । तात्पर्य यह कि एकपाद विशुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म के, ब्रह्म अन्तर्यामी अपरब्रह्म और वैश्वानर ये चारोंपाद सूर्यदेवता विषयक होने से अधिदैव कहे जाते हैं । क्योंकि ब्रह्म का देवताओं में सबसे बड़ा सूर्यशरीर ही है । उसी ब्रह्म के, आत्मा प्राज्ञ तैजस और विश्व ये चारोंपाद मनुष्यशरीर विषयक होने से अध्यात्म कहे जाते हैं । क्योंकि ब्रह्म का अध्यात्माओं में कर्मयोनि होने से सबसे उत्तम मनुष्य शरीर है ।

जिससे कि सच्चिदानन्दब्रह्मके ये दोनोंरूप, महाप्रलयमें नहीं रहतेहैं—वहां एक वही रहताहै, इसीसे ये दोनोंरूप उसके वास्तविकरूप नहींहैं । इसीलिए ब्रह्मके इन मायामय तथा त्रिगुणात्मक दोनों रूपोंका श्रुतियोंद्वारा निषेध कियागयाहै । ऊपरमें पांच श्रुतियोंका सारभूत अर्थ कियागयाहै । उनके आगेकी छठी श्रुति यहहै—“अथात आदेशो नेति नेति नह्ये-

तस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्ति”—इस श्रुतिका अर्थ यहहैजिससेकि सच्चिदानन्दब्रह्मके ये दोनोंरूप वास्तविक रूप नहीं हैं “अतः” इसीकारणसे, “अथ-अव” नेति नेति” यह नहीं यह नहीं, ऐसा “आदेश” उपदेशहै—एवं यह भी नहीं तथा इससे और कुछ भिन्नभी नहींहै । इस श्रुतिमें नेति नेति इसप्रकार दो नकार दिएगएहैं । इसमेंसे एक न केद्वारा तो ईश्वरपनेकी उपाधि जो शुद्धसत्त्वगुणप्रधानमाया या इच्छा, उसके कारण जो ब्रह्मका हुआ ईश्वर अपरब्रह्म और वैश्वानर रूपहै उसरूपका निषेध कियागयाहै । और दूसरे न केद्वारा जीवपनेकी उपाधि जो मलिनसत्त्वगुणप्रधानअविद्या या इच्छा, इसके कारण जो ब्रह्मात्माका हुआ प्राज्ञ तैजस और विश्व रूपहै—इस रूपका निषेध कियागयाहै । श्रुतिमें आयाहुआ यहभी नहीं तथा इससे और कुछ भिन्नभी नहींहै—इस वाक्यका भाव यहीहै कि ब्रह्मका माया और अविद्याके सहित ईश्वर तथा जीवरूप, वास्तविकरूप नहींहै । इससे इसका निषेध करनाही उचितहै । यदि ब्रह्मके

इस ईश्वर जीवरूपी स्वरूपोंको सर्वांशमें त्यागदे तो ब्रह्म इनसे अलग नहीं है । वह होय है । उसका त्याग वाञ्छित नहीं है । इसलिए भागन्यागलक्षणाकेद्वारा इन दोनों रूपोंमेंसे विरोधि अंशको त्यागकर उसका ग्रहण करना उचित है । ब्रह्मके रूप, आदित्य ईश्वरमेंसे तो विचारकेद्वारा जो शुद्धसत्त्वमाया रूपी कारण सूक्ष्म और स्थूलशरीर रूप है, इस एकताके विरोधि वाच्यांशको अलग करदीजिये, उसमें केवल लक्ष्यस्वरूप सत्य ब्रह्मको रहनेदीजिये । इसीप्रकार ब्रह्मात्माकेरूप, पुरुष जीवमेंसे विवेककेद्वारा जो मलिनसत्त्व अविद्यारूपी कारण सूक्ष्म और स्थूल शरीर रूप है, इस एकताके विरोधि वाच्यभागको दूर कीजिये । इसमें केवल लक्ष्यस्वरूप ब्रह्मात्माको रहनेदीजिये । ब्रह्मनाम सच्चिदानन्द स्वरूपका है । इसप्रकार द्वारपाल और राजाके दृष्टांतके समान; निरुपाधि रूपमें, ईश्वर और जीव, इन दोनोंकी एकतामें कुछभी विरोध नहीं है । नेति नेति तथा यहभी नहीं और इससे भिन्नभी कुछ नहीं है—इस श्रुतिका वास्तविक अर्थ यही है । इसी-लिये वह जो इस पुरुषमें है और जो उस आदित्यमें है वह एक है—इन पूर्वोक्त श्रुतियोंका ऐमा कथन सत्यही है ।

“परीक्ष्य०” इन पूर्वोक्त मंत्रोंसे, गुरुकेद्वारा कहनेयोग्य तत्त्वसे ब्रह्मविद्याका उक्तप्रकारसे वर्णन किया गया । मुण्डक उप० के प्रथम खण्डमें वर्णन की हुई यही पराविद्या है—जिसके द्वारा विरोधि वाच्यभागका निषेधकरके अविनाशी पुरुष जाना जाता है ।

इसीसे वह सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वैत्यं० न जाननेमें आनेवाला
आदि अविनाशी ब्रह्म है ।

बृहदा० अध्याय १ ब्राह्मण ४ श्रुति ६-ने स्वयं यह प्रश्न
उठाया है कि मनुष्य, जिस ब्रह्मविद्याकेद्वारा अब ऐसी संभावना
करते हैं कि हम सर्वरूप होजाएंगे पहले किस महापुरुषने उस
ब्रह्मको जाना-जिससे कि वह सर्वरूप होगया । इस प्रश्नका
उत्तर १०वीं श्रुति देती है कि वह पहलेभी वास्तवमें ब्रह्म ही था,
परन्तु बीचमें कुछ अज्ञान आगया-जिससे कि वह अपने
वास्तविक ब्रह्मरूपको भूल सा गया । फिर कुछही समयके
अनन्तर उसने अपने आपको “अहंब्रह्मास्मि” में ब्रह्म हूँ, ऐसा
जानलिया- इससे वह फिर सर्वरूप होगया, अर्थात् वह ब्रह्म
होगया । उसके अनन्तर देवताओंके बीचमें जिसने उसको
जानलिया वह ब्रह्म होगया तथा ऋषियोंके बीचमें जिस ऋषिने
उसे जाना वह भी ब्रह्म होगया तथा मनुष्योंके बीचमें, जिस
मनुष्यने ब्रह्मको जानलिया वह भी ब्रह्म होगया । इसीसे वाम-
देव ऋषिने अपनी सर्वात्मरूपताको प्रकट करतेहुए कहा है कि
मैं ही मनु था, मैं ही सूर्य हूँ ऐसा उसने अपना अनुभव बताया ।
अब भी यदि कोई मनुष्य, अपनेको “अहंब्रह्मास्मि” में ब्रह्म हूँ
इसप्रकार विवेककेद्वारा जानलेता है वह सब कुछ होजाता है ।
देवता भी उसकी अपेक्षा महावीर्य नहीं होते और उसके ऐश्वर्य-
के रोकनेको समर्थ नहीं होते । क्योंकि वह इन देवताओंका

आत्मा होजाताहै । जो मनुष्य, अपनेसे भिन्न किसी देवताकी उपासना करताहै कि वह देवता मेरेसे भिन्नहै और मैं उससे भिन्न हूँ वह अज्ञानीहै । वह देवताओंका पशु अर्थात् पालन करनेवालाहै । जैसेकि बहुत पशु, मनुष्यका पालनकरतेहैं, इसी-प्रकार एक एक मनुष्य, देवताओंका अग्निहोत्र आदि कर्मकेद्वारा पालनकरताहै । यदि मनुष्यके बहुतसे पशुओंमेंसे कोई एक पशु किसी हिंसक जीवकेद्वारा माराजाताहै तो उस मनुष्यको दुख होताहै । बहुत मारेजावें तो अत्यन्तही दुख होजाताहै इसीलिये मनुष्योंका ब्रह्मज्ञानी होजाना देवताओंको प्रिय नहींहै । (क्योंकि वे मुक्त होजातेहैं ।) यह श्रुतियोंका अर्थहै ।

द्वैतवाद पर विचार

प्रियपाठकगण । गौड़िया सम्प्रदायके प्रवर्तक मध्वाचार्यजीका तथा श्रीरामानुजाचार्यजी आदि द्वैतवादियोंका यह सिद्धान्तहैकि प्रत्येक जीवमें, सबसे पीछे सर्वज्ञ अन्तर्यामी सच्चिदानन्द ब्रह्महै । उसके आगे उसकी मायाशक्तिहै, उसके अनन्तर सत्चित् रूप जीवात्माहै, इसके आगे इसकी अविद्या रूपी इच्छा शक्तिहै । इन लोगोंका ऐसा सिद्धान्तहै । इसका तात्पर्य यह होताहैकि अन्तर्यामीब्रह्म, अपनी प्रकृतिको प्रेरणाकरताहै और वह जीव-आत्माको धक्का लगातीहै, तब यह जीवात्मा अपनी इच्छाको शुभाशुभमें लगाताहै । परन्तु इस सिद्धान्तके अनुसार, जीवको अणुमात्रकी भी स्वतंत्रता प्राप्त नहींहै यह एकप्रकारसे ईद

पत्थरके समान बनजाता है । ईंटको चाहेतो नालीमें लगालो या किसी पवित्र मन्दिरमें—वह कुछ नहीं कहेगी । ऐसाही यह जीवात्मा भी है । क्योंकि यह प्रेर्य है किन्तु प्रेरक नहीं है । और यह अन्तर्यामीब्रह्मके सम्मुख नहीं जासकता है । क्योंकि इसके पीछे मायारूपी दीवार है उसमें इसका प्रवेश नहीं है । कारणार्क यह वहिमुख है उसकी ओर इसका मुख नहीं है । भक्तिभी यह इसप्रकार करसकेगा जिससे कि मैं अल्पज्ञ हूं इसीसे वह सर्वज्ञ होगा । क्योंकि मैं अल्पशक्तित्वाला हूं वह सर्वशक्तिमान होगा । क्योंकि मैं दुखी हूं, अतः वह आनन्दरूप होगा । इसप्रकारके अनुमान—द्वारा, यह अपनी त्रुटियोंको देखता हुआ जैसा भी चाहे उसका गुणगान करसकता है । केवल श्रद्धाकी बात है । वास्तवमें देखा जावे तो शरीरमें एक आत्मासे भिन्न दूसरा कोई परमात्मा नहीं है ।

पारमार्थिक द्वैत

श्रीमध्वाचार्यजी तथा श्रीरामानुजाचार्यजी आदि भक्तजन, यह मानते हैं कि इस शरीरमें पहले सत् चित् जीवात्मा है, इसके पीछे माया और उसके पीछे सच्चिदानन्द ईश्वरान्तर्यामी है । जीवात्मा, परमात्मज्ञानद्वारा उसकी भक्तिकरके मोक्षकी अवस्थामें उसकी समीपता प्राप्तकरके उसकी कृपासे उसके सत्यकाम सत्यसंकल्प आदि ब्राह्म ऐश्वर्यको भोगता है । इसप्रकार ये सभी भक्तलोग, मोक्षमें भी जीव और ईश्वरकी भिन्न २ स्थिति मानते हैं, यह

पारमार्थिक द्वैत है यानी परमार्थमें भी दो का बने रहना । न्याय-शास्त्र और वैशेषिकशास्त्र ये दोनों यह मानते हैं, कि मोक्षमें मन अलग होजाता है और जीवात्मा अपने सत्मात्र या जड़रूपसे स्थित होजाता है । दोनों ही भिन्न २ होकर रहते हैं । सांख्यदर्शन और योगदर्शन ये दोनों यह मानते हैं कि बुद्धि या प्रकृति अलग होजाती है और पुरुष-जीवात्मा अपने चैतन्यमात्ररूपसे स्थित होजाता है, यह सब पारमार्थिक द्वैत है अर्थात् मोक्षमें भी दो का बने रहना । इसीसे ऐसा माननेवाले ये सभी लोग, द्वैतवादी कहलाते हैं । क्योंकि इनके मतसे व्यवहारमें तथा परमार्थमें भी दोनों अवस्थाओंमें द्वैत है ।

पारमार्थिक अद्वैत

एकही सच्चिदानन्दब्रह्म, कार्यरूप सूक्ष्मशरीरकी उपाधिसे जीव कहलाता है और कारणशरीररूप आनन्दमयकोशकी उपाधि या स्थानसे प्राज्ञ—ईश्वरान्तर्यामी कहाजाता है । तथा कार्य और कारणरूप उपाधिसे रहितहुआ वहीं परमात्मा है अर्थात् ब्रह्म है । कैवल्यमोक्षकी अवस्थामें, कार्य तो कारणमें लीन होजाता है । और कारणशरीर प्रकृति आनन्दमयकोश स्पन्दशक्ति अस्मि अथवा इच्छाशक्ति, स्वाश्रय सच्चिदानन्द आत्मामें विलीन होजाती है । क्योंकि शक्ति, शक्तिवानसे पृथक् नहीं रहसकती । इस-प्रकार केवल सच्चिदानन्दब्रह्मात्माही शेष रहजाता है । यह पारमार्थिक अद्वैत है, अर्थात् व्यवहारमें अविद्याद्वारा द्वैतसा है किंतु

परमार्थरूपी कैवल्यमोक्षमें अद्वैत है । इसके माननेवाला अद्वैत-वादी कहा जाता है । परन्तु जो व्यक्ति, एकही शरीरमें, माया और अविद्या इन दोनों उपाधियोंकी स्थिति स्वीकार कर, जीव और उपास्य ईश्वरकी स्थितिमानता है वह अद्वैतवादी कह-लानेका अधिकारी नहीं है । वह मूढ़ है । उसे अद्वैतसिद्धान्तका कुछभी अनुभव नहीं है । क्योंकि एक शरीरमें नखसे लेकर शिखा पर्यन्त एकही उपाधि रहती है दोनों नहीं रहतीं । अन्य सभी शास्त्रोंमें अद्वैतसिद्धान्तका खंडन पाया गया है । परिशेषतः अद्वैतसिद्धान्त ब्रह्मसूत्रकाही सिद्ध होता है । इसके मुख्य आचार्य अब आद्य श्रीशंकराचार्यजीही माने जाते हैं ।

तत्त्वमसि महावाक्यका अर्थ

छांदोग्य छठे अध्यायके अष्टम खंडकी दो श्रुतियोंका अर्थ—
उद्दालक नामसे प्रसिद्ध अरुणके पुत्रने अपने पुत्र श्वेतकेतुसे कहा—हे सोम्य । तू मेरेद्वारा स्वप्नान्त (सुषुप्ति) को विशेषरूपसे समझले । जिस अवस्थामें यह पुरुष सोता है, ऐसा कहा जाता है, उस समय सोम्य । यह सत्से संपन्न होजाता है, यह अपने स्वरूपको प्राप्त होजाता है । इसीसे इसे “स्वपिति” ऐसा कहा-जाता है, क्योंकि उससमय यह “स्व” अपनेकोही प्राप्त होजाता-है । ॥१॥ जिसप्रकार डोरीसे बंधाहुआ पक्षी दिशा विदिशाओंमें उड़कर अन्यत्र स्थान न मिलनेपर अपने चन्धनस्थानकाही आश्रय लेता है, उसीप्रकार निश्चयही सोम्य । यह मन दिशा

विदिशाओंमें उड़कर अन्यत्र स्थान न मिलनेसे प्राणकाही आश्रय लेता है । क्योंकि सोम्य । मन प्राणरूप बन्धनवाला है । अर्थात् इसका सत्ही आश्रय है ॥२॥ आगेकी श्रुतियोंका संचिप्त अर्थ— सोम्य । तू मेरेद्वारा भूख और प्यासको जान । जिस समय यह पुरुष कुछ खाता है उससमय जलही इसके भक्षणकिये हुए अन्नको लेजाता है । हे सोम्य ! उस जलसे ही तू इस शरीर को उत्पन्नहुआ जान । क्योंकि यह विना कारणके नहीं है । अन्नको छोड़कर इसका मूल और कहां होसकता है । इसीप्रकार सोम्य । तू अन्नरूप अंकुर द्वारा जलरूप मूलको खोज । और हे सोम्य । जलरूप अंकुरकेद्वारा तेजोरूप मूलको जान । तथा तेजोरूप अंकुरकेद्वारा सद्रूप मूलका अनुसन्धानकर । सोम्य । इसप्रकार यह उक्त सभी प्रजा, सत् मूलक है तथा सत् ही इसका आश्रय है और सत्ही प्रतिष्ठा नाम लय स्थान है । ३।४। जिससमय यह पुरुष पीता है तो इसके पीयेहुए जलको तेज ही लेजाता है । हे सोम्य । उस जलरूप मूलसे यह शरीररूप अंकुर उत्पन्न होता है ऐसा जान । क्योंकि यह मूलरहित नहीं होसकता ॥५॥ सोम्य । उस शरीरका जलके विना और मूल नहीं है । जलरूप अंकुरकेद्वारा तू तेजोरूप मूलको जान । और तेजोरूप अंकुरकेद्वारा सद्रूप मूलकी शोधकर । सोम्य । इस सम्पूर्ण प्रजाका सत्ही कारण है तथा सत्ही स्थिति स्थान है और सत्ही लय स्थान है । सोम्य । पृथिवी जल और तेज इन तीन स्थूलभूतोंका त्रिवृत्-

करण पहले ही कहा जा चुका है । हे सोम्य । मरणको प्राप्त होते-
हुए इस पुरुषकी वाणी मनमें लीन होजाती है, तथा मन प्राणमें
प्राण तेजमें और तेज परदेवतामें लीन होजाता है । वह जो यह
अणिमा है, इसीकारूप यह सब है । वह सत्य है वह आत्मा है और
हे श्वेतकेतो, वही तू है । श्वेतकेतुने कहा मुझे फिर समझाइये ।
आरुणिने कहा अच्छा । ६।७। आठवां खंड समाप्त है ।

स्मरण रहे कि शुद्ध सत्त्वगुणप्रधानमायाके सहित चैतन्य, तत्पद-
का वाच्यार्थ ईश्वर है और मायासे रहित चैतन्य, तत्पदका
लक्ष्यार्थ ब्रह्म है, एवं अविद्याके सहित चैतन्य त्वं पदका वाच्यार्थ
जीव है और अविद्यासे रहित चैतन्य, त्वं पदका लक्ष्यार्थ कुटस्थ
आत्मा है, यह प्रक्रिया यहांके शांकरभाष्यसे सर्वथा ही विपरीत है ।
क्योंकि भाष्यमें, मनसे रहित शुद्ध सत्को तत्पदसे ग्रहण किया है
और मनके सहित सत्को त्वं पदसे ग्रहण किया है । इसीसे पहिले ही
तत्त्वमसि इस वाक्यका “अतस्तत्सत्त्वमसीति श्वेतकेतो”

हे श्वेतकेतो, अतः वह सत् तू है ऐसा अर्थ, इस भाष्यसे
किया है । एवं आगेके आठोंही तत्त्वमसि वाक्योंका व्याख्यातम्,
समानं, तथा उक्तार्थम्—अर्थ कह दिया ऐसा ही अर्थ किया गया है ।

“यन्मयो यत्स्थश्च जीवो मनन दर्शन श्रवणादि
व्यवहाराय कल्पते तदुपरमे च स्वं देवतारूपमेव
प्रतिपद्यते” जीव, जिसके रूपसे और जिसमें स्थित होकर मनन

दर्शन और सुनना आदि व्यवहार करता है सुषुप्तिमें उस मनके उपराम होनेपर अपने परदेवतारूपको प्राप्त होजाता है ।

न ह्यन्यत्र सुषुप्तात्स्वमपीतीति जीवस्येच्छन्ति ब्रह्मविदः ब्रह्मवेत्ता लोग, सुषुप्तिसे भिन्न, जाग्रत और स्वप्नमें जीवका अपने स्वरूपको प्राप्त होना नहीं मानते अर्थात् सुषुप्तिमें ही मानते हैं । जीवात्मना मनसि प्रविष्टा नामरूपव्याकरणाय परादेवता सा स्वमेवात्मानं प्रतिपद्यते जीवरूपतां मन आख्यां हित्वा । नामरूपको प्रकट करने केलिये जीवरूपसे मनमें प्रविष्टहुआ परमात्मा, मन नाम वाले जीवरूपको त्यागकरके वह अपने स्वरूपको प्राप्त होजाता है । मनसि प्रविष्टं मन आदि संसर्गकृतं जीवरूपं परित्यज्य स्वं सद्रूपं यत्परमार्थसत्यमपीतो अपिगतो भवति । मनमें प्रविष्टहुआ मन आदि के संबन्धसे कियेहुए जीवरूपको त्यागकर अपना जो परमार्थ सत्य सद्रूप है उसे प्राप्त होजाता है सुषुप्तिमें । आगेके खंडोंमें महाप्रलयके विषयमें भी ऐसा ही कहा है । मरण अवस्थामें ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही स्वस्वरूपभूत सत् नामी परमात्मा होजाते हैं किंतु ज्ञानीका पुनर्जन्म नहीं होता है । और अज्ञानीका पुनर्जन्म होता है । ज्ञानीके और अज्ञानीके मरणमें यही विशेषता है ऐसा कहा है । यह कुछ भाष्य है और शेष भाष्यका अनुवाद है ।

१ सम्पूर्ण सुषुप्तिको आनन्दमयकोश या कारणशरीर माननेवाले व्यक्तियोंकी इस श्रुति और भाष्यद्वारा आखें खुल जानी चाहियें । क्योंकि वे लोग अभीतक अंधेरेमेंही जारहेहैं । २ जोलोग, आत्माको कोशातीत और कारणातीत तो बता रहेहैं, परन्तु उसकी कोशातीत और कारणातीत चौथी तुरीय अवस्था सुषुप्तिकी मध्य अवस्था नहीं बता रहेहैं वे भी आत्माका, कोशों और तीन शरीरोंसे अन्वय संबन्ध या मेल बतानेसे तीनशरीरोंमेंही भ्रमण कर रहेहैं, अतः वे अपने वास्तविक घरको भूले हुएहैं । जैसे कोई स्वर्णकी आभूषणोंद्वाराही सिद्धिकरे परन्तु उसकी आभूषणोंसे रहित डली रूप शुद्ध अवस्था न दर्शावे, इसीप्रकार उन्हें भी आत्माकी शुद्ध व्यतिरिक्त या भिन्न अवस्थाका कुछभी बोध नहींहै । कारणकि आत्माकी, सुषुप्तिकी मध्य अवस्था या गाढ सुषुप्तिही कोशातीत या कारणातीत शुद्ध निर्गुणब्रह्मरूपा चौथी तुरीय अवस्थाहै । ३ जो लोग, गाढसुषुप्तिको निर्गुणब्रह्म सच्चिदानन्द आत्माकी तुरीय अवस्था “जोकि विदेहकैवल्य मुक्तिका छोटा रूपहै” नहीं मान रहेहैं, वे लोग, श्रुतियोंके विरोधी तथा अपनी बुद्धिके भी परमशत्रुहैं । क्योंकि वे निर्गुण ब्रह्मात्मासे उसकी मनरूपाशक्तिको उससे भिन्न करके उसके अत्यन्ताभाव करनेकी सर्वथा असम्भव कल्पना कर रहेहैं । क्योंकि यह मनरूपाशक्ति ब्रह्मात्माके ही आश्रितहै, इसका अन्य कोई ठिकाना नहींहै । इसलिये मनरूपाशक्तिका सच्चिदा-

नन्दब्रह्मात्मामें छिपजानाही ब्रह्मात्माकी निर्गुण अवस्थाहै और इसका सच्चिदानन्दात्मामें प्रकट होजानाही ब्रह्मात्माकी सगुण अवस्था या बन्ध अवस्थाहै। इसलिये सुषुप्तिकी मध्य अवस्था-भी आत्माकी शुद्ध निर्गुण अवस्थाहै या सापेक्ष मोक्ष अवस्थाहै। अस्तु। इस खण्ड से आरम्भ हुआ “तत्त्वमसि” यह वाक्य, सम्पूर्ण छठे अध्यायका साररूपहै : इस वाक्यमें कथित तत् यह पद शुद्ध सत्का स्मारकहै, किन्तु यह मायापति ईश्वरका वाचक नहींहै। इस आठवें खण्डमें सत्को तीनप्रकारसे एक अद्वितीय ब्रह्म सिद्ध कियागयाहै। १-सुषुप्तिद्वारा २-समाधिद्वारा ३-मरणकेद्वारा। इसमें आया हुआ “तत्त्वमसि” यह वाक्य, इन्हीं तीन अवस्थाओंसे सम्बन्ध रखताहै। आगेके सभी खण्डोंमें, इस खण्डमें आएहुए विषयोंकाही दृष्टान्तोंद्वारा स्पष्टीकरण किया गयाहै।

नवम खण्डकी भूमिका

१सुषुप्तिद्वारा-जिस अवस्थामें यह पुरुष सोताहै ऐसा कहा-जाताहै उससमय हे सोम्य (सोम्य नाम प्रियकाहै) यह सत्से संपन्न होजाताहै, यह अपने स्वरूपको प्राप्त होजाताहै-इसीसे इसे “स्वपिति” ऐसा कहाजाताहै, क्योंकि उस समय यह “स्व” अपनेको प्राप्त होजाताहै। १। जैसे पत्नीका बन्धनस्थान डोरीहै ऐसेही मनका बन्धन स्थान या आश्रय सत्है। यह आठवें खण्डकी दो श्रुतियोंका संचिप्त अर्थहै। इस खण्डद्वारा सत्में

संसारकी कारणताका हेतु मन बताया गया है । इसप्रकार इस आठवें खण्डमें सत्को सुषुप्तिद्वारा एक अद्वैतब्रह्म सिद्ध किया गया है । अब इसी बातको दृष्टान्तसे स्पष्ट करते हैं ।

नवम खण्ड

इस खण्डमें, मधुके दृष्टान्तसे यह बताया गया है कि हे सोम्य ! जैसे नाना वृक्षोंके रस, मधु रूपहोकर अपने २ पहिलेके नामों और रूतोंको भूल जाते हैं—ऐसेही यह सम्पूर्ण व्याघ्रसिंह आदि प्रजा, सुषुप्ति अवस्थामें सद्रूप होकर यह नहीं जानती कि हम सद्रूप होगए हैं—वे इस लोकमें व्याघ्र सिंह भेड़िया शूकर कीट पतंग डांस अथवा मच्छर जो जो भी सुषुप्ति अवस्थाके पूर्व होते हैं वे ही पुनः होजाते हैं । आगे “स य एषोऽणिमा” इस अन्तिम श्रुतिके अर्थको जाननेकेलिये पहिले सृष्टि क्रमको समझ लेना चाहिये । जोकि इसी अध्यायके दूसरे खण्डसे आरम्भ किया गया है—वह ऐसे है— “सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवा-

द्वितीयम् । १ । तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति । २ ।

हे सोम्य । यह सब प्रपंच अपनी उत्पत्तिसे प्रथम या महाप्रलयकी मध्य अवस्थामें, एकही अद्वितीय सत्था । अर्थात् सत्से भिन्न नहीं था—इसीसे वह सत्, स्वगत आदि तीन भेदोंसे रहित होनेसे निरपेक्ष निगुण ब्रह्म था । १ । ‘तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति’ तत्—उसी सत्तने, ऐक्षत—ईच्छा या इच्छाकी, बहुस्यां—बहुत होजाऊं,

प्रजायेय-अनेकप्रकारसे उत्पन्न होजाऊं। यह श्रुतियोंका अर्थ है।
 भावार्थ-“तदैक्षत” इस श्रुतिमें तत् यह पद, एक अर्द्धतीय
 सद्ब्रह्मका स्मारक है। ऐक्षत-यह पद, सामान्य इच्छाका वाचक है-
 जोकि सात्विकी राजसी और तामसी सवप्रकारकी इच्छाओंका
 सामूहिकरूप है। इसी इच्छारूपी कारणशरीर या आनन्दमयको-
 शके सहितहोनेसे वही एक अर्द्धतीय व्यापक सत्, ईश्वर और
 जीवोंकेरूपसे बहुरूपसा या विभक्तता होगया। व्यापक सत्में
 जहांपर शुद्ध सात्विकी इच्छा होगई वहां वह सत्, प्राज्ञविशेष-
 नामी, निरपेक्ष ईश्वर होगया। सत्में जहांपर शुद्ध सत्त्वप्रधानकी
 अपेक्षा मलिनसात्विकी इच्छा हुई वहां वहांपर वह सत्,
 प्राज्ञनामी सापेक्ष ईश्वर होगया। इसप्रकार इच्छारूपी कारण-
 शरीरोंका अभिमानी प्राज्ञोंका समूह होगया। जिससेकि सूक्ष्म-
 सृष्टिसे प्रथम, स्थूलसृष्टिकी उत्पत्ति माननी सयुक्त नहीं है।
 इसीसे दूसरी इच्छा, सत्के बहुरूप प्राज्ञोंने सूक्ष्मशरीरोंके लिये
 की-ऐसा मानना सयुक्त है। उन्होंने इच्छाकरके शब्द आदि
 तन्मात्राओंद्वारा बुद्धि मन पांचज्ञानेन्द्रियों पांचप्राण और पांच-
 कर्मेन्द्रियोंकी उत्पत्ति की। इन्हीं १७ तत्त्वोंरूप सूक्ष्मशरीरोंद्वारा,
 सत्के बहुरूप प्राज्ञोंकी, बहुरूप तैजसनामी जीव संज्ञा होगई।
 प्राज्ञविशेष निरपेक्ष ईश्वरकी, अपने सूक्ष्मशरीरद्वारा हिरण्यगर्भ
 या अपरब्रह्म संज्ञा होगई। वेदोंमें, हिरण्यगर्भको “हिरण्य-
 गर्भ जनयामासपूर्व”-सबसे प्रथम हिरण्यगर्भको उत्पन्न

किया—यहांपर ईश्वरका शरीर माना गया है। और “हिरण्य-
 गर्भः समवर्तताग्रै”—पहले जगत्का पति एक हिरण्यगर्भही
 था। इस मंत्रद्वारा उसे ईश्वर माना गया है। इसप्रकार निरपेक्ष
 ईश्वर, जीवोंसे भिन्न है और जीव, ईश्वरसे अलग हैं। किंतु सत्
 तो निरपेक्ष ईश्वर और जीव इन दोनोंमें ही व्यापक है। जैसा कि
 राजा तो द्वारपालसे भिन्न है और द्वारपाल, राजासे भिन्न है किंतु
 मनुष्यता दोनोंमें ही व्यापक है। सत् तो महाकाशके समान ब्रह्म या
 व्यापक है। मठाकाशके समान आदित्यस्थानी निरपेक्ष ईश्वर है।
 तथा घटाकाशके समान अन्य जीव हैं। ये सब परस्परमें
 भिन्न भिन्न हैं, इसीसे परिच्छिन्न हैं। ईश्वर तो, जीवोंका कारण
 नहीं है तथा जीव, ईश्वरके कार्य नहीं हैं। इसीसे इन दोनोंका
 परस्परमें कारण कार्यरूप सम्बन्ध नहीं है। अत्रायं पुरुषः स्वयं
 ज्योतिर्भवति—सृष्टिमें और स्वप्न अवस्थामें यह पुरुष स्वयं-
 प्रकाश या स्वतंत्र होता है। इस बृहदा-श्रुतिसे, सूक्ष्म शरीर तक
 वे जीव स्वतंत्र रहे। अब तीसरी इच्छा, सत्के रूप प्राज्ञ तथा प्रा-
 ज्ञोंके रूप तैजस जीवोंको, स्थूलशरीरोंके लिये हुई। परन्तु इस कार्यके
 करनेमें वे असमर्थ रहे। “ता एनमब्रुवन्—” इस ऐतरेय श्रुतिसे,
 तब वे तैजस जीव, निरपेक्ष ईश्वरसे बोले कि आप हमारे लिए स्थान
 बना दीजिए जिसमें स्थित होकर हम, अन्न खा सकें। तब निरपेक्ष
 ईश्वर हिरण्यगर्भ या कठ तथा प्रश्न उप०के अनुसार अपरब्रह्मको,
 स्थूलशरीरोंके बनानेके लिए इच्छा उपजी। इसप्रकार पहिली

इच्छा शुद्ध सत्में हुई । दूसरी इच्छा, सत्के बहुरूप प्राज्ञोंमें, सूक्ष्मशरीरोंकेलिये हुई । तीसरी इच्छा, प्राज्ञोंके रूप तैजसोंमें स्थूलशरीरोंकेलिये हुई । और अपरब्रह्ममें तीसरी इच्छा, स्थूल-शरीरोंके बनानेवास्ते हुई । प्रियपाठको । अब “ तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति ” इस पाठके अनन्तर “ तत्तेजोऽसृजत ”—उसने तेज-को रचा । इत्यादि पाठको लगाना चाहिये । उसने अर्थात् सत्के बहुरूपमेंसे एकरूप अपरब्रह्मने, अपनेलिये तथा सूक्ष्मशरीरयुक्त बहुरूप अन्य जीवोंकेलिये ब्रह्मसूत्र अ० ४ पाद ४

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च ॥१७॥

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारकमंडलस्थोक्तेः ॥१८॥

इन सूत्रोंके अनुसार, स्थूल जगत्की उत्पत्ति पालन और संहार करनेका अधिकार, आदित्यमंडल अवस्थित परमात्माको है । इसलिये उसने, तेज जल और पृथिवी इन तीन स्थूलभूतोंकी उत्पत्ति करके इनका त्रिवृतकरण अर्थात् एक एक भूतके तीन तीन किये जाना ऐसा त्रिवृत करण किया । इनकेद्वारा, अपने लिये आदित्यनामका स्थूलशरीर बनाया तथा अन्य बहुरूप सूक्ष्मशरीरकेलिये उसीके पूर्वमें किये हुए कर्मोंके परिणाम स्वरूप स्थूलशरीरोंको बनाकर उनकेद्वारा उस सूक्ष्म बहुरूपको ढक-दिया । उसके अनन्तर वह बहुरूप तैजसनामी सत्, आगेके लिये स्थूलशरीरोंको बनानेकेलिये स्वतंत्र होगया । इसप्रकार पहले जो एकही अद्वितीय सत् था वह इन्हीं स्थूल शरीरोंद्वारा

वैश्वानर देव दानव मानव पशु पक्षी और पतंग आदि अनेक नामोंसे प्रसिद्ध होगया । प्रिय पाठक जी । अब प्रकरणको लीजिये । उसी बहुरूप सत्में जो अब एक त्वं रूपी सत्, घटके नाशसे घटाकाशके महाकाशरूप होजानेकी भान्ति, जीवत्वके कारण मनके सत्में लीन होजानेसे सुषुप्तिकी मध्य अवस्थामें जो पुनः सद्ब्रह्मरूपसे स्थित है । स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम् । स आत्मा, तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति । स—जो इच्छाकी उत्पत्तिसे प्रथम, द्वैतरहित एकही सद्ब्रह्म था वह, य एषः—वही जो सत्, ईक्षण या इच्छाकरके बहुरूपमें कारणरूप त्वं है यह, अणिमा— सूक्ष्म है, एतदात्म्यम्—इसी सत् और मनरूपी कारण त्वं का रूप, इदं सर्वं—यह सब तेज जल और पृथिवी, कार्य रूप प्रजा है, तत्सत्यम्—यह कारण कार्य रूपी त्वं, सत् रूपसे नित्य है, स आत्मा—वह सत् व्यापक है, हे श्वेतकेतो । तत्—जो अब सुषुप्तिमें मनके सत्में लीन होजानेपर सत् रूपसे एक अद्वैत ब्रह्म है वह, त्वं—सत् और मनरूप त्वंमेंसे मनरूप एक वृत्ति भागका त्याग करनेसे दूसरा भाग सत्, कारण कार्यसे रहित तत् रूपसे एक निद्वैत ब्रह्म, असि—है । अर्थात् मनकी निरुद्धावस्थामें तत् और त्वं में भेद नहीं है । स्मरण रहे कि सृष्टिकालमें मुक्तपुरुषसत्, अपनी दृष्टिसे एकही अद्वैत या स्वगत आदि भेद शून्य ब्रह्म है और महाप्रलयमें सत्, ज्ञानी अज्ञानी या सबकी दृष्टिसे एकही अद्वितीय ब्रह्म है । क्योंकि इसी

रीतिसे “सदेव” इस श्रुतिका अर्थ संगत होता है । अब प्रश्न यह हुआ कि जिस लक्षणावृत्तिसे तत् और त्वं की एकता कही गई है वह लक्षणावृत्ति क्या है । उत्तर—पदका अर्थके साथ जो वर्तव है उसका नाम वृत्ति है—वह वृत्ति दो प्रकारकी है एक शक्ति वृत्ति दूसरी लक्षणावृत्ति कहलाती है । अर्थात् पदका अपने अर्थके साथ मिलाप दो प्रकारसे होता है । वाच्यके सम्बन्धको लक्षणा कहते हैं । इसलिये लक्षणाके बोधार्थ पहिले वाच्यका ज्ञान होना आवश्यक है । वह ऐसे है—पद वाचक होता है और उसका अर्थ वाच्य होता है, जिस अर्थको पद, अपनी सामर्थ्यरूप शक्तिसे जितलावे वह उस पदका वाच्य होता है । जैसे घट, इस पदके सुनतेही श्रोताको कलशरूपी बाह्य अर्थका ज्ञान होजाता है, वह अर्थ, घट पदका वाच्य है । पदोंका समूह वाक्य होता है । जिस वाक्यके अर्थ या तात्पर्यको पद, अपनी सामर्थ्यरूपशक्तिसे बोधकरे वह अर्थ, पदकी शक्तिसे जाना गया है । जैसे किसीने कहा घड़ेको ले आ, ऐसा सुनतेही श्रोताको वाक्यके तात्पर्यका भान होगया और वह घड़ेको ले आया । यहां पर पदने अपनी सामर्थ्यसे वाक्यके अर्थ का बोध करदिया । यही पदकी शक्तिवृत्तिकहलाती है । जो लक्षणावृत्तिसे जाना जावे वह लक्ष्य होता है । जहांपर पद, अपने वाच्यार्थकेद्वारा, वक्ताके तात्पर्यकी सिद्धि न करे किंतु अपने वाच्यके सम्बन्धी द्वारा करे वह लक्षणावृत्ति कहलाती है । १—जहती लक्षणा—जैसा किसीने कहा

गंगामें ग्रामहै । यहां श्रोताको गंगा यह पद, अपने गंगाके प्रवाहरूपी वाच्यकेद्वारा ग्रामकी स्थितिरूपी तात्पर्यका बोध नहीं करासका । क्योंकि गंगाके प्रवाहमें ग्रामकी स्थिति असंभवहै । अतः यहां गंगा पदने अपने वाच्यके संबन्धी किनारेद्वारा ग्रामका बोध कराया, यही पदकी लक्षणावृत्तिहै । इससे यह सिद्ध हुआकि वक्ता तो अब लक्षपिताहै या लखानेवालाहै, और श्रोता लक्षिताहै या लखनेवालाहै, तथा गंगा यह पद वाच्यके संबन्धी किनारेद्वारा लक्षणाहै, या लखनेका द्वारहै, एवं ग्राम लक्ष्यहै या लखागयाहै । प्रवाहरूपी समस्त वाच्यका त्याग कियागया-इससे इस लक्षणाका नाम जहती लक्षणाहै । २.—अजहती लक्षणा—जहां वाच्यका त्याग न करके अधिकका ग्रहण कियागयाहै, वहां अजहती लक्षणा है । जैसे किसीने कहा लाल दौड़ताहै । यहां लाल यह पद वाच्यहै और लाल रंग इसका वाच्यहै । किन्तु लाल रंगमें धावन बनता नहींहै । इसीलिये लालरंग सम्बन्धी घोड़ेका ग्रहण कियागया । क्योंकि उसमें धावन बनताहै । जिससे कि लालरंगरूपी सम्पूर्ण वाच्यभागको रखकर उससे अधिक घोड़ेका ग्रहण कियागया—इसीसे इस लक्षणाका नाम अजहति लक्षणाहै । ३.—भागत्यागलक्षणा—परन्तु तत्त्वमसि वाक्यमें भागत्यागलक्षणा मानी गईहै । क्योंकि इसमें वाच्यके सम्पूर्ण भागको त्यागा नहीं जाताहै । और न अधिकका ग्रहण किया-जाताहै । वाच्यमेंसे केवल एकही विरोधि भागको त्यागा जाना-

है । इसीसे यह भागत्यागलक्षणा कही गई है । तत्त्वमसि वाक्यमें भागत्यागलक्षणा क्यों मानी गई । इसका उत्तर—तत्त्वमसिमें तत् यह पद, अहंनामी ज्ञाता ज्ञान और शैयरी त्रिपुटीसे रहित निर्वृत सद्ब्रह्मका बोधक है । और त्वं यह पद, मैं वृत्तिके सहित सत्का वाचक है । और मैं वृत्तिके सहित सत्, त्वं पदका वाच्य है । इसप्रकार त्वं, मैं नामी ज्ञाता ज्ञान और शैयरी त्रिपुटीके सहित द्वैतरूप तथा परिच्छिन्न है और तत् त्रिपुटी रहित ब्रह्म है । गुरुने कहा कि तत्त्वमसि वह तू है । यहां श्रोताको, त्वं यह पद, अपने इच्छावृत्तिके सहित सत् रूपी वाच्यका, द्वैतसे रहित तत्के साथ अभेदरूप अर्थका बोध नहीं करा सका । क्योंकि इच्छावृत्ति सहितकी और इच्छावृत्ति रहितकी एकता असंभव है । अतः यहां भागत्यागलक्षणा ऐसे करनी पड़ी कि त्वं पदके वाच्यमेंसे मैं वृत्तिरूपी एकताके विरोधि एकभागका त्यागकर वाच्यके संबन्धी तत् पद रूपी लक्षणाके द्वारा वाच्यका दूसरा भाग सत् लक्ष्य बनाया । इससे यह सिद्ध हुआ कि तत्त्वमसि वाक्यका उपदेष्टा गुरु तो लक्ष्यपिता है या लखानेवाला है और जिज्ञासु रूपी श्वेतकेतु त्वं लक्षित है या लखनेवाला है जो कि सत् और मन रूपसे वाच्यार्थ है । इसमेंसे मनरूपी एकताके विरोधि एकवृत्ति भागका त्यागकर तत् पदका ग्रहण लक्षणा है या लखनेका-द्वार है, एवं वाच्यका दूसरा भाग सत् लक्ष्य है या लखा गया है ।

अर्थात् गुरुने त्वं रूपी शिष्यको तन्के समीप पहुंचाया और तत्ने उसे व्यापक सत्में मिलादिया । इसप्रकार भागत्याग-लक्षणावृत्तिकेद्वारा तत् और त्वंकी एकता बन गई है । “सोऽयं देवदत्तः” या यह वही देवदत्त है, इस वाक्यके स और अयं इन दोनों पदोंमें लक्षणा करनी युक्त ही है । क्योंकि जो देवदत्त स इस पदसे पहिले बकरी वाला था वही देवदत्त अब अयं इस पदसे राजा है । इसलिये एकताके विरोधि दोनों वाच्य भागोंमेंसे देश काल आदि विरोधि एक एक भागका त्यागकर देवदत्तके शरीरमात्रमें दोनों पदों वह और यहकी एकता बनती है । परन्तु तत्त्वमसि वाक्यमें यह उदाहरण उपयुक्त न होकर, राजकुमारमें भिन्नपनेके आरोपका दृष्टान्त उपयोगी है । जैसे कोई राजकुमार किसी कारणवस भिन्नलोंद्वारा पाला गया । तब उसको मैं भिन्न हूं ऐसा दृढ़ भ्रम होगया । फिर किसीने उसे ऐसा उपदेश किया कि तत्त्वमसि—वही राजकुमार तू है । अब उसे अपनेमेंसे केवल भिन्नपनेके साधनोंका त्याग करना पड़ा, राजकुमार तो वह था ही, उसका त्याग कैसे होसकता है । क्योंकि वह तो उसका स्वरूप है । इसीप्रकार तत्त्वमसि वाक्यमें भी एक त्वं पदमें ही लक्षणा है । तत् तो त्वं का स्वरूप ही है । जो लोग, “तदैक्षत” इस श्रुतिके तत् इस पदसे, मायापति सर्वज्ञ ईश्वरका ग्रहण करके उसे अपने कारण सूक्ष्म और स्थूलशरीरकी उत्पत्तिका हेतु मानकर उसका अपनेमें निवास मानते हुए फिर

उसे कल्पित बनारहेहैं वे लोग, मानो पितासे कल्पित पुत्रके समान स्वयं कल्पित होतेहुए अपने कल्पक पिताको कल्पित बनानेकी सर्वथा असंभव बातें बनारहेहैं । क्योंकि कल्पित, अपने कल्पक-को कल्पित नहीं बनासकता । इसलिये तदैक्षत इस श्रुति में तथा तत्त्वमसि वाक्यमें तत् यह पद, माया रहित सत्का ही स्मारक या बोधकहै किन्तु मायापति ईश्वरका वाचक नहींहै । इसप्रकार नवम खंडमें, सुषुप्तिके द्वारा त्वं पदकी व्याघ्र सिंह आदि हिंसक प्रजाके साथभी तत् रूपी सत्में मनकी लीनावस्थामें एकता कही-गईहै । इसलिये तत्त्वमसि वाक्यमें तत् यह पद, मायापति ईश्वर का वाचक नहींहै, किन्तु मायारहित सत्का बोधकहै । नवम खण्ड समाप्तहै । दशमखण्डकी भूमिकाभी नवमखण्डकी भूमि-काके समानही समझनीचाहिये । क्योंकि इसमेंभी सत्को, सुषुप्ति केद्वाराही एक अद्वितीय ब्रह्म सिद्ध कियागयाहै ।

दशम खण्ड

इस खण्डमें नदियोंके दृष्टांतसे ऐसा सूचित कियागयाहैकि हे सोम्य । जैसे नदियां समुद्रसे उत्पन्नहोकर फिर समुद्रमें मिल जाती-हैं, वे सब समुद्रमें यह नहीं जानतीं कि यह मैं हुं और यहमैंहुं, ऐसेही ये सब व्याघ्रसिंह आदि प्रजाएं सत्से आनेपर यह नहीं जानतीं कि हम सत्से आयीहैं । वे इसलोकमें, व्याघ्र आदि जो जोभी सुषुप्तिसे प्रथम होतेहैं वे ही फिर होजातेहैं ।
स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यम् स

आत्मा, तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति । इस श्रुतिका नव-
मखण्डमें स्पष्टीकरण किया जा चुका है । क्योंकि इसमें भी सत्को
सुषुप्तिद्वारा, एक अद्वितीय ब्रह्म सिद्ध किया गया है । दशम-
खण्ड समाप्त है ।

एकादशखण्डकी भूमिका

२ समा धिकेद्वारा—हे सोम्य । जिस समय यह पुरुष कुछ खाता है
तब उस भक्षित अन्नको जल लेजाता है । जलसे ही तू शरीरको
उत्पन्न हुआ जान । जलरूपी कार्यका मूल या कारण तेज है
और तेजका मूल सत् है । ऐसे ही जब, यह पुरुष जल पीता है
तब उस जलको तेज लेजाता है तब यह शरीर उत्पन्न होता है ।
इस शरीररूपी कार्यका मूल जल है, जलका मूल तेज है और तेज-
का मूल या कारण सत् है । इस प्रकार यह तेज जल आदि सभी
प्रजा सत् मूलक है, सत्से ही स्थित है और अन्तमें इसका सत् ही
लय स्थान है । यह अष्टमखण्डकी श्रुतिका संचिप्त अर्थ है । अब
यहां सद्ब्रह्म और मायापति ईश्वरको एक ही वस्तु माननेवाले
भक्तलोगोंको दुराग्रह छोड़कर मान लेना चाहिये कि सत् तो ब्रह्म-
है—जो कि शुद्ध सात्त्विकी मायारूपी इच्छाकरके आदित्यस्थानी
निरपेक्ष ईश्वर हुआ है और मलिन सात्त्विकी मनरूपी इच्छाद्वारा
जीवरूप हुआ है । इस प्रकार सत् दोनोंमें व्यापक है । किंतु ईश्वर
और जीव परस्पर भिन्न भिन्न हैं । इसलिये उक्त श्रुतिमें सत्नाम
जीवका ही है, जो कि सृष्टिसे पहिले एक अद्वितीय सत् था, किन्तु

उक्त श्रुतिमें सत् नाम मायापति सर्वज्ञ ईश्वरका नहीं है । क्योंकि अवतो त्वं नामक जीवही शुभाशुभकर्मकेद्वारा इस तेज जल और पृथिवीके परिणामस्वरूप शरीररूपी प्रजाकी उत्पत्तिका कारण है, और अन्न जलके भक्षणद्वारा इस तेज जल और पृथिवीके समुदाय शरीररूपी प्रजाकी स्थितिका मूल है, अन्तमें इस प्रजाके मृत्युरूपी लयका मूलभी जीवही है, किंतु मायापति ईश्वर तो नहीं है । अस्तु । इसप्रकार आठवें खण्डमें सत्को, शरीरकी उत्पत्तिका कारण बताकर समाधिकेद्वारा मनके निरोधमें एक अद्वैत ब्रह्म सिद्ध किया गया है । अब इसी विषयको दृष्टान्तसे स्पष्ट करते हैं

एकादश खंड

इस खंडमें वृत्तके दृष्टान्तसे यह जितलाया है कि हे सोम्य । जैसे किसीकेद्वारा वृत्तको खंड २ करकाटडालनेपर भी वह जीवात्माके सहित हराभरा खड़ा रहता है, किंतु जीवात्मासे त्यागाहुआ वह साराही सूख जाता है । ऐसेही जीवसे त्यागा गया यह शरीरही मरता है, किंतु जीव नहीं मरता है । स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्, स आत्मा, तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति । स—जो इच्छाकी उत्पत्तिसे प्रथम, द्वैतरहित एकही सत्ब्रह्म था वह, य एषः—वही जो सत्, ईक्षण या इच्छाकरके बहुरूपमें त्वं कहा जाता है और शरीरकी उत्पत्ति आदिका कारण है यह, अणिमा—सूक्ष्म है, एतदात्म्यम्—सत् और मनके रूपसे जो

कारणरूप त्वंहै इसीकारूप, इदं सर्वम्—यह सब तेज जल और पृथिवी, कार्यरूप प्रजाहै, तत्सत्यम्—यह कारण कार्यरूपी त्वं सत् रूपसे नित्यहै, स आत्मा-वह सत् व्यापकहै, हे श्वेतकेतो, तत्-जो अब समाधिमें मनके सत्मेंलीन होजानेसे सत् रूपसे एक नि-
 द्वैत सद्ब्रह्म होगयाहै वह, त्वं—सत् और मनरूप त्वं मेंसे मन-
 रूप एक वृत्ति भागका त्यागकरनेसे दूसराभागसत, कारण कार्य
 से रहित तत् पदसे एक निद्वैत ब्रह्म तू, असि-है । अर्थात् मनकी
 निरुद्धावस्थामें तत् और त्वंमें किंचित् भी भेद नहींहै । इति । ऐसे-
 तो इस खंडकी भूमिकाद्वारा तथा इस खंडसे, जो अन्नजलके
 भक्षण द्वारा शरीरकी उत्पत्ति आदि करताहै और जिससे त्यागा-
 हुआ यह वृक्षरूपी शरीर सूख जाताहै वह जीव नित्यहै ऐसा
 बतलाकर वह तू है, इसप्रकार दूसरे जीवमें तत् पदका प्रयोग-
 करके उसके साथ त्वंपदकी, कारणरूपतामें एकता कीगई प्रतीत
 होतीहै, तोभी ऐसा नहींहै । क्योंकि १ तत् पद, इच्छा रहित
 एक अद्वितीय सत्का बोधकहै और त्वंपद इच्छासहित सत्का
 वाचकहै, जोकि शरीरकी उत्पत्ति आदिका करताहै । इसलिये
 कारणमें तत् पदका प्रयोग कियाजाना यहाँ वास्तविक नहींहै
 किन्तु गौणसाहीहै । २ सत्में कारणपनेका हेतु अविद्यारूपी
 मनहीहै, यही द्वैतहै । “द्वितीया द्वैभयं भवति” दूसरेसेही भय
 होताहै, इस तैत्तरीय श्रुतिसे, “नाल्पे सुखमस्ति ।” अल्पमें या
 द्वैतमें सुख नहींहै, इस छादोग्य श्रुतिसे, सिद्ध होताहैकि द्वैत

बोधनमें श्रुतियोंका तात्पर्य नहीं है। क्योंकि कारणके ज्ञानसे कुछ पुरुषार्थ सिद्ध नहीं हुआ है। इसलिये यहां समाधिस्थ सत् रूपी तत्के साथ, समाधिमें स्थित सत् रूपी त्वंकी एकता करनी चाहिये, इससे तत्त्वमसि वाक्यका अर्थ संगत होता है। ३ इसकी भूमिकामें ऐसा कहा है कि जब यह पुरुष खाता और पीता है तथा इस खंडमें कहा है, ऐसे ही जीवसे त्यागा हुआ यह शरीर ही मरता है। इन दोनोंमें कर्मयोनि होनेसे मनुष्यका ही नाम लिया है। इसलिये भी समाधिस्थ सत् रूपी तत्के साथ समाधिमें स्थित सत् रूपी त्वंकी एकता करनी युक्त है। क्योंकि वाच्यमें से विरोध एक भागका त्याग, सुषुप्ति समाधि और मरणमें ही होता है, अन्यत्र नहीं। वृद्धोंका दृष्टांत केवल, सत्की कारणता नित्यता और व्यापकताका दर्शक तो है। परन्तु एतावन्मात्र-ज्ञान मोक्षका हेतु नहीं है। इस प्रकार एकादश खंडमें, समाधि-द्वारा तत् और त्वं पदकी, मनोकी निरुद्ध अवस्थामें एकता कही गई है। इसलिये तत्त्वमसि वाक्यमें तत् यह पद, मायापति सर्वज्ञ ईश्वरका वाचक नहीं है, किन्तु मायारहित सत्का बोधक है। एकादश खंड समाप्त हुआ।

द्वादश खंडकी भूमिका भी एकादश खंडकी भूमिकाके समान ही है। क्योंकि इसमें भी सत्को, समाधिके द्वारा ही एक अद्वितीय ब्रह्म सिद्ध किया गया है।

द्वादश खंड

इस खंडमें, वट वृक्षके फलका दृष्टांत दिया गया है कि हे सोम्य ! वट वृक्षसे एक फल तोड़ला और उसे फोड़ डाल । श्वेतकेतुके ऐसा करनेपर आरुणिने पूछा इसमें क्या देखता है, उसने कहा कि अणुके समान दाने हैं । आरुणिने कहा इनमेंसे एकको फोड़ डाल । श्वेतकेतुके ऐसा करनेपर आरुणिने पूछा इसमें क्या देखता है । श्वेतकेतुने कहा कुछ नहीं, तब उससे आरुणिने कहा कि हे सोम्य । इस वटबीजकी जिस अणिमाको तू नहीं देखता उस अणिमा-काही यह इतना बड़ा वट वृक्ष खड़ा हुआ है । हे सोम्य । तू इस कथनमें श्रद्धा कर । स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम् स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति । इस श्रुतिका एकादश खण्डमें स्पष्टीकरण किया गया है । क्योंकि इसमें भी सत्को समाधिद्वारा, एक अद्वितीय ब्रह्म सिद्ध किया गया है । इस खंडमें, आरुणिने कहा कि हे श्वेतकेतो, तूमेरे इस कथनमें श्रद्धा कर । परन्तु श्वेतकेतु श्रद्धाकरके चुप नहीं हुआ । उसने कहा कि मेरेको फिर समझाइये । इससे ऐसी शिक्षा मिलती है कि जबतक जिज्ञासुकी जिज्ञासा या जाननेकी इच्छा निवृत्त न हो जावे तबतक उसे प्रश्न कातेही रहना चाहिये । क्योंकि आत्मज्ञान विचारका विषय है, केवल श्रद्धाका विषय नहीं है । द्वादश खंड समाप्त है ।

त्रयोदश खण्डकी भूमिका

पूर्वोक्त खंडद्वारा आरुणिने श्वेतकेतुको कारणकार्यसे रहित सत्-का बोध कराया । परन्तु इससे श्वेतकेतुको अपने अस्तित्वके अभावकी आशंका होगई । इससे श्वेतकेतुने कहा मेरेको फिर समझाइये । आरुणिने कहा अच्छा ।

त्रयोदश खण्ड

हे सोम्य । इस नमकको जलमें डालकर कल मेरे पास आकर इस नमकको इसमें टूंडना । श्वेतकेतुने वैसाही किया । परन्तु उसे डलीरूप नमक उस जलमें न मिला । आरुणिने कहा, नमक इसमें विलीन होगयाहै इसीलिये तू उसे नेत्रसे नहीं देखसकना । उसे यदि तू जानना चाहताहै तो इस जलको ऊपर मध्य और नीचेसे आचमनकर । श्वेतकेतुके आचमनकरनेपर आरुणिने पूछा क्याहै । श्वेतकेतुने कहा नमकीनहै । आरुणिने कहा इस जलमें नमक सदा विद्यमानहै । ऐसेही वह सत्भी इस शरीरमें सदा विद्यमानहै । तू उसे देखता नहींहै । स य एषोऽणि-मैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम् । स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति । स-जो इच्छाकी उत्पत्तिसे प्रथम, द्वैत रहित एकही सद्ब्रह्मथा वह । य एव-वही जो सत् ईक्षण या इच्छाकरके बहुरूपमें कारणरूप त्वंहै यह । अणिमा सूक्ष्महै, एतदात्म्यम्-इसी सत् और मनरूपी कारण त्वंकारूप, इदं सर्व-

यह सच तेज जल और पृथिवी, कार्यरूप प्रजाहै, तत्सत्यम्- यह कारण कार्यरूपीत्वं सत् रूपसे नित्यहै, स आत्मा-वह सत् व्यापकहै, हे श्वेतकेतो, तत्-जो इच्छाकरनेसे प्रथम, एक अद्वितीय सद्ब्रह्मथा वह, त्वं-वही सत् जो ईक्षण करके तेज जल और पृथिवीरूप कार्य प्रजाका करता सत् और मनरूप तथा कारण कार्य रूप तू है, त्वंमेंसे मनरूप एकवृत्ति भागका त्याग करनेसे दूसराभाग सत्, तत् रूपसे एक निर्वैत ब्रह्म तू, असि-है । अर्थात् मनकी निरुद्धावस्थामें तत् और त्वं में भेद नहींहै । यह श्रुतियों-का अर्थहै ।

जो लोग यहां, सत् से मायापति ईश्वर को ग्रहणकरतेहैं- वे लोग, केवल वेदान्त दर्शनकाही नहीं किन्तु स्वस्वरूपावस्थिति मुक्ति माननेवाले अन्य सभी सांख्यदर्शन आदि शास्त्रोंके सिद्धान्त-का खंडन करतेहैं । क्योंकि एक घटमें एकही आकाशके समान, एक शरीरमें एकही सत् है किन्तु जीव और ईश्वररूपी दो सत् नहींहैं । अस्तु । इस खंडमेंभी समाधिकेद्वारा मनकी निरुद्धावस्थामें सत् को, एक निर्वैत ब्रह्म सिद्ध कियागयाहै । त्रयोदश खंड समाप्तहै ।

चतुर्दश खण्डकी भूमिका

पीछेके खंडमें आरुणीने श्वेतकेतुसे कहाहैकि सत् इसी शरीरमें- है, इसकी खोजकर । ऐसा सुनकर श्वेतकेतुको संदेह हुआकि तो वह सत् मिलता क्यों नहींहै । मुझे फिर समझाइये ।

अब आरुणिजी इस विषयको इस खंडमें दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट करते-
हैंकि सत्का ज्ञान गुरुसेही प्राप्त होता है, बिना गुरुके नहीं ।

चतुर्दश खंड

हे सोम्य ! जैसे कोई चोर, किसी धनी पुरुषकी आंखें बाँधकर उसे गान्धार देशसे लाकर उसका धन छीनकर जनशून्य स्थानमें छोड़दे । उस जगह वह पुरुष, क्रमसे चारोंही दिशाओंकी ओर मुखकरके चिल्लावे कि मुझे आंखें बाँधकर यहाँ लाया गया है और वैसेही छोड़ा गया है । ऐसी उसकी पुकार सुनकर कोई दयालु पुरुष, उस पुरुषके बन्धन खोलकर कहेकि गंधार इस दिशामें है, अतः तू इसी दिशाको चलाजा । तो वह बुद्धिमान् पुरुष, एक ग्रामसे दूसराग्राम पूछताहुआ गान्धारमें ही पहुँचजाता है । ऐसेही आचार्यवान् पुरुषही या गुरुभक्त ही सत्को जानता है । फिर उसकी मोक्ष होनेमें उतनाही विलम्ब है जबतक कि वह प्रारब्ध कर्मकी भोगसे समाप्ति नहीं करदेता । उसके पश्चात् तो वह सत्से संपन्न या ब्रह्म होजाता है । स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यम् । स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो । इति स-जो इच्छाकी उत्पत्तिसे प्रथम, द्वैतरहित एक ही सद्ब्रह्मथा वह, य एषः-वही जो सत्, इच्छाकरके बहुरूप में कारणरूप त्वं है यह, अणिमा-सूक्ष्म है, एतदात्म्यम्-इसी सत् और मनरूपी कारण त्वंकारूप, इदं सर्वं-यह सब तेज जल और

पृथिवी, कार्यरूप प्रजा है, तत्सत्यम्—यह कारण कार्यरूपी त्वं, सत् रूपसे नित्य है, स आत्मा—वह सत् व्यापक है, हे श्वेतकेतो । तत्—जो इच्छा करनेसे पहिले एक ही अद्वितीय सद्ब्रह्म था वह, वही जो सत्, ईक्षण करके तेजजल और पृथिवीरूप कार्य प्रजा का करता सत् और मनरूप तथा कारणकार्यरूप तू है, त्वंमेंसे मनरूप एकवृत्तिभागका त्याग करनेसे दूसरा भाग सत्, तत् रूपसे एक निद्वैत ब्रह्म तू असि—है । अर्थात् मनकी निरुद्धावस्था में, तत् और त्वं में भेद नहीं है । यह श्रुतियोंका अर्थ है । इस खंडमें भी समाधिके द्वारा सत्को एक निद्वैत ब्रह्म सिद्ध किया गया है । चतुर्दश खंड समाप्त है ।

पंचदश खण्डकी भूमिका

३—मरणके द्वारा—हे सोम्य । मरनेवाले पुरुषकी वाणी मनमें लीन होजाती है तथा मन प्राणमें, प्राणतेजमें और तेज परमात्मदेवमें लीन होजाता है । यह आठवें खंडकी श्रुतिका अर्थ है । इस श्रुतिसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मृत्युकी अवस्थामें त्वं नामी जीव, मनोवृत्तिके स्वस्वरूप आत्मदेवमें लीन होजानेसे कुछ समय तक त्रिपुटीके अभावमें, एक अद्वितीय सद्ब्रह्म होजाता है । अस्तु । आठवें खंडमें सत्को तीन प्रकारसे एक अद्वैत ब्रह्म सिद्ध किया गया है । १—सुषुप्तिके द्वारा २—समाधिके द्वारा ३—मरणके द्वारा, इन तीनोंमें चतुर्दश खण्ड तक सुषुप्तिद्वारा और

समाधिद्वारा सत् को एक अद्वैत ब्रह्म सिद्ध किया गया है। अब उसे मरणके द्वारा, एक अद्वैत ब्रह्म सिद्ध किया जाता है। क्योंकि श्वेतकेतुने कहा है, मुझे फिर सयम्भाइये ।

पंचदश खण्ड

हे सोम्य । ज्वर आदिसे संतप्त सुमुषु या मरनेवाले पुरुषको चारों ओरसे घेरकर उसके बान्धवगण पूछा करते हैं— क्या तू मुझे जानता है । क्या तू मुझे जानता है । जबतक उसकी वाणी मनमें लीन नहीं होजाती तथा मन प्राणमें, प्राण तेजमें और तेज या उदानवायु परमात्मामें लीन नहीं होजाता तबतक वह पहचान लेता है । फिर जिस समय उसकी वाणी मनमें लीन होजाती है, मन प्राणमें, प्राण तेजमें और तेज परमात्मादेवमें लीन होजाता है तब वह नहीं पहचानता । स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यम् । स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो । इति ।

स—जो इच्छा की उत्पत्तिसे पहिले, द्वैतरहित एकही सद्ब्रह्म था वह, य एषः—वही जो सत् ईक्षणकरके बहुरूपमें कारणरूप त्वं है यह, अणिमा-सूक्ष्म है, एतदात्म्यम्—इसी सत् और मनरूपी कारण त्वंकारूप- इदं सर्वं—यह सब तेज जल और पृथिवी कार्यरूप प्रजा है। तत्सत्यम्—यह कारण कार्यरूपी त्वं, सत् रूप से नित्य है, स आत्मा-वह सत् व्यापक है श्वेतकेतो । तत् जो

अब मरणावस्थामें, मनके सत् परमात्मामें लीन होजानेसे तत् रूप से एक अद्वैत सद्ब्रह्म है वह, त्वं--सत् और मनरूप त्वंमेंसे, मनरूप एक इच्छावृत्तिभागका त्याग करनेसे दूसरा भाग सत्, तत् रूपसे एक निद्वैत ब्रह्म तू, असि--है। अर्थात् मनकी निरुद्धावस्थामें तत् और त्वं में भेद नहीं है। इसप्रकार सत्को मरणके द्वारा एक अद्वैत ब्रह्म सिद्ध किया गया। पंचदश खण्ड समाप्त है ।

षोडश खण्डकी भूमिका

पीछेके खण्डमें आरुणिने कहा कि मरनेवाला पुरुष, सत् रूप होजाता है। ऐसा श्रवणकर श्वेतकेतुको शंका हुई कि सभी मरते हैं और फिर जन्म लेते हैं इस मरणके द्वारा सत्को प्राप्त करना किसी पुरुषार्थकी सिद्धिका हेतु नहीं है—इसीसे उसने आरुणीसे कहा कि मुझे फिर समझाइये। अब आरुणि उसे बन्ध और मुक्तिके योग्य भूटेजानी और सच्चे ज्ञानीकी पहचान चोरके दृष्टान्तसे कराते हैं।

षोडश खण्ड

हे सोम्य । राजकर्मचारी, किसी पुरुषको हाथ बान्धकर लाते हैं । और कहते हैं कि इसने, धनकी चोरी की है । इसके लिये परशु नाम कुल्हाड़ा तपाओ । वह यदि चोरीका करनेवाला होता है तो झूठको अन्दरमें छिपाकर परशुको पकड़ता है तब उसका हाथ दग्ध होजाता है और वह राजाके पुरुषोंद्वारा

पीटाजाता है । और यदि वह चोरीका करने वाला नहीं होता है तो वह सत्यको आवृत्तकरके परशुको ग्रहणकरता है वह उससे नहीं जलता है और तत्काल छोड़ दिया जाता है । वह जिस प्रकार उस परीक्षासे नहीं जलता । एतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यम्, स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो । इति तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति । एतदात्म्यम् वही जो सत् इच्छाकरके बहुरूपमें कारणरूप त्वंहै, इसीका रूप, इदं सर्वं—यह तेज जल और पृथिवी, कार्यरूप प्रजा है, तत्सत्यम्—यह कारण कार्यरूपी त्वं सत् रूपसे नित्य है, स आत्मा—वह सत् व्यापक है, हे श्वेतकेतो । तत् जो अब मरण अवस्थामें, मनके सत् रूप परमात्मामें लीन हो जानेसे तत् रूपसे एक अद्वैत सद्ब्रह्म है अर्थात् तत्त्वज्ञानके द्वारा मुक्त हो गया है वह, त्वं-सत् और मनरूप त्वंमेंसे इच्छा या मनरूप एकवृत्ति भागका त्याग करनेसे दूसरा भाग सत्, तत् रूप लक्षणावृत्तिके द्वारा, एक निद्वैत ब्रह्म तू, असि—है । अर्थात् इस अवस्थामें तत् और त्वं में भेद नहीं है । तब श्वेतकेतु उसे जान गया, जान गया । यह श्रुतियोंका अर्थ है । तात्पर्य यह है कि चोर के समान, विषयभोगलंपट वाचकज्ञानी, मरनेके पीछे यमके द्वारा नरकमें अनेक प्रकारके दुख भोगकर जन्म ग्रहण करता है, और जिसकी सर्ववासनाएं नष्ट होगई हैं वह अचोरके समान मरनेके पीछे पुनरावृत्तिसे रहित मुक्त हो जाता है । क्योंकि उसका यह मरण साधारण मरण नहीं है किन्तु सब मरणोंकी

अपेक्षा निर्वासनिक अन्तिम मरणहै । यहां तत्त्वमसि वाक्यमें, तत् पदसे केवल सत् रूप मुक्तपुरुषके साथ त्वंपदकी एकता करनी यदार्थहीहै । क्योंकि मुक्तपुरुषके समान त्वं नामी अन्य जीव भी मुक्तहोसकताहै । यहां ऐसा कहाहै वह श्वेतकेतु उसे जानगया । वह क्या जानगया—इसका उत्तर यह है कि वह एक सत्के ज्ञानसे सबको जानलेना । क्योंकि ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय-रूपी संपूर्ण विशेष ज्ञानोंकी सत्मेंही समाप्तहोतीहै और होसकतीहै । अन्यथा इन विशेष ज्ञानोंकी कोई अब्धि नहींहै । क्योंकि संसारके पदार्थ अनन्तहैं—इससे विशेषज्ञानभी असंख्यहीहैं । अब प्रश्न यह होताहै कि श्वेतकेतुने सत्को मनका विषयरूपसे जाना अथवा अविषयरूपसे । इसका उत्तर केनोपनिषद्में ऐसाहै—

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेदसः—जो जानता-है कि सद्ब्रह्म वृत्तिका विषय नहींहै वह उसे जानताहै और जो जानताहै कि सद्ब्रह्म वृत्तिका विषयहै वह सद्ब्रह्मको नहीं जानता । क्योंकि निर्विशेष सद्ब्रह्म अनिर्वाच्यहै या वाणीका विषय नहींहै । इसप्रकार आठवें खंडसे लेकर सोलहवें खंडतक सत्को, १—सुषुप्तिद्वारा २—समाधिद्वारा ३—और मरणद्वारा तीन प्रकारसे एक अद्वैत ब्रह्म सिद्ध कियागया । तत्त्वमसिका अर्थ समाप्तहै और सोहलवां खंड समाप्तहै । स्मरण रहे कि आठवें खंडसे लेकर सोलहवें खंडतक तत्त्वमसि वाक्यमें तत् यह पद, सुषुप्तस्थ समाधिस्थ और मरणस्थ सत्का स्मारकहै जिसके साथ

त्वं की वाच्यभागके त्याग पूर्वक एकता की गई है । परन्तु तत् यह पद, आदित्यस्थानी निरपेक्ष ईश्वरका वाचक नहीं है । क्योंकि यह प्रकरण, केवल ज्ञान परक है किन्तु यह उपासना परक नहीं है ।

प्रज्ञानं ब्रह्म, इस महावाक्यका अर्थ

ऐतरेयमें “आत्मा वा” इस श्रुतिसे ऐसा कहा है कि पहिले एकही अद्वितीय आत्मा था । उसने इच्छा की । यहां आत्मा नाम चैतन्यका है । क्योंकि आगे तीसरे अध्यायमें ऋषियोंद्वारा परस्परमें यह प्रश्न उठाया गया कि जिसकी हमलोग उपासना करते हैं वह यह आत्मा कौन है । क्योंकि एकतो आत्मा वह है जो कि पहिले एक अद्वितीय था । दूसरा यह है जिससे देखता है सुनता है गन्ध लेता है शब्द उच्चारण करता है स्वाद और अस्वाद-को जानता है अर्थात् जो संसारी है । ऐसा विचार विनिमय होने पर अन्तमें सबने यही निर्णय किया कि एकही आत्मा है उसीकारूप यह सब है । जो यह अंतःकरण है, यही मन है, संज्ञान आज्ञान विज्ञान प्रज्ञान मेधा दृष्टि धृति मति मनीषा जूति स्मृति संकल्प क्रतु असु काम और वश ये सब प्रज्ञानके ही नाम हैं । यही ब्रह्मा इन्द्र प्रजापति देवता पांच महाभूत आदि जो कुछ भी स्थावर जंगम है यह सब प्रज्ञासे संचालित है तथा सबकी प्रज्ञानमें स्थिति है और प्रज्ञानही सबका आधार या लयस्थान है । प्रज्ञानब्रह्म है । यह श्रुतियोंका भावार्थके सहित अर्थ है ।

श्रुतिरूपी गुरुसे श्रवणकियेहुए इस वाक्यमें शिष्यको शंका हुई कि प्रज्ञान पद तो मनके सहित चैतन्यका वाचक है और मन सहित चैतन्य, प्रज्ञान पदका वाच्य है । ब्रह्म नाम, मनरहित व्यापक चैतन्यका है । वृत्तिसहित परिच्छिन्न चैतन्यकी और वृत्तिरहित व्यापक चैतन्यकी एकता नहीं हो सकती । अब “आचार्यवान् पुरुषो वेद” गुरुवाला पुरुष ही परमात्माको जान सकता है इस श्रुतिके अनुसार, जीवितगुरुजी, इस वाक्यमें लक्षणा करते हैं कि हे शिष्य, मनके सहित आत्मा या चैतन्यरूपी प्रज्ञानमेंसे एकताके विरोधि मनरूपी एक भागका त्याग करनेसे दूसरा भाग चैतन्य, ब्रह्मपदसे एक अद्वितीय लक्ष्य है । प्रज्ञानं ब्रह्म, इस वाक्यमें गुरु लक्षयिता या लखानेवाला है तथा शिष्य लक्षिता या लखनेवाला है एवं ब्रह्म लक्षणा या लखनेका द्वार है, एक अद्वितीय चैतन्य, लक्ष्य या लखा गया है या जाना गया है । यहां ब्रह्म लक्ष्य नहीं है किन्तु ब्रह्मका स्वरूप, चैतन्य ही लक्ष्य है । स्मरण रहे कि “प्रज्ञानं ब्रह्म” इस वाक्यमें ब्रह्म यह पद, माया-रहित चैतन्यका बोधक है किन्तु आदित्यस्थानी मायापति ईश्वरका स्मारक नहीं है । क्योंकि यह प्रकरण केवल ज्ञानका ही है किन्तु यह उपासनाका नहीं है ।

अहं ब्रह्मास्मि इस महावाक्यका अर्थ

बृहदारण्यक अध्याय १ ब्राह्मण ४ की ६ और दशवीं श्रुतिका सम्पूर्ण अर्थ पीछे लिखा जा चुका है । अब उनमेंसे

“अहंब्रह्मास्मि” इस वाक्यका अर्थ लिखा जा रहा है । अहं इस पदका, मन या बुद्धिके सहित सच्चिदानन्द वाच्य है और ब्रह्म यह पद लक्षणा है तथा अस्मि यह पद एकताका बोधक है । अहंके वाच्यमेंसे एक मनरूपी वृत्तिभागका त्याग करनेसे दूसरा-भाग सच्चिदानन्द, ब्रह्म पदसे एक अद्वितीय लक्ष्य है । अर्थात् मनोवृत्तिके निरोध होनेपर सच्चिदानन्दमें द्वैत नहीं है । क्योंकि बृहदा० अ० ४ ब्राह्मण ३ श्रुति ७ “ ध्यायतीव लेलायतीव ” मनके ध्यान करनेपर आत्मा ध्यान करता सा होता है और मनके चंचल होनेपर आत्मा चंचल सा हो जाता है । इस श्रुतिसे आत्मा-में कर्तापनेका कारण मन या बुद्धि ही है । स्मरण रहे कि अहंब्रह्मा-स्मि इस वाक्यमें ब्रह्म यह पद, सच्चिदानन्दका स्मारक है किन्तु आदित्यस्थानी सर्वज्ञ ईश्वरका स्मारक नहीं है । क्योंकि यह प्रकरण केवल ज्ञान परक है किन्तु यह उपासना परक नहीं है ।

अयमात्मा ब्रह्म, इस वाक्यका अर्थ

माण्डूक्यके आरम्भमें, समस्त विश्वको ओंकाररूप बताया गया । फिर ओंकारको ब्रह्म बताया गया । इसके अनन्तर ब्रह्मको “अयमात्मा ब्रह्म” यह आत्मा ब्रह्म है, ऐसा कहा गया । तत्पश्चात् ब्रह्मात्माको चतुष्पाद बताया गया । फिर अध्यात्म विश्वको और अधिदैव वैश्वानरको ब्रह्मात्माका पहिला पाद कहा गया । ऐसे ही तैजसको और हिरण्यगर्भको ब्रह्मात्माका दूसरा पाद बताया गया । इसके पीछे प्राज्ञको और आदित्यस्थानी ईश्वरको ब्रह्मात्माका

तीसरापाद कहागया । फिर ब्रह्मात्माको “नान्तः प्रज्ञ” इससे अविद्या मायासे रहित चौथा पाद कहागया । फिर अध्यात्म विश्वकी, अधिदैव वैश्वानरकी और अकारकी एकता कहीगई । इसके अनन्तर अध्यात्म तैजस, अधिदैव हिरण्यगर्भ और उकारका अभेद बतायागया । फिर अध्यात्म प्राज्ञ अधिदैव ईश्वर और मकारको एक बतायागया । तत्पश्चात् अमात्राका आत्मा और ब्रह्मका अभेद बतायागयाहै । प्रियपाठको । इसप्रकार ओंकारकेद्वारा, सापेक्ष सगुणब्रह्म आदित्यस्थानी ईश्वरकी और निर्गुणब्रह्मकी आत्माके साथ अभेद उपासना बताईगईहै । इसीलिये प्रत्येक अंगरूप उपासनाके अन्तमेंभी “य एवं वेद” जो इसप्रकार उपासना करताहै, ऐसा फलरूप पाठ दियागयाहै । अयमात्मा ब्रह्म, इस वाक्यसे आरम्भकरके आत्माके विश्व आदि मनुष्यशरीर विषयक अध्यात्म तीनपाद और ब्रह्मके वैश्वानर आदि आदित्यस्थानी अधिदैव तीनपाद एवं ओंकारकी अकार आदि तीन मात्राएं, मन और मायाके सांहत बताकर ईश्वरके साथ प्राज्ञका अभेद चिन्तन बतायागया । यह सगुण उपासना बताईगई । अन्तमें आत्मा नामका चौथा पाद तथा ब्रह्म नामका चौथा पाद और ओंकारकी चौथी अमात्राको मन और मायाके रहित शुद्ध बतायागयाहै । इससे निर्गुण उपासना कहीगईहै । इसप्रकार “अयमात्मा ब्रह्म” इस वाक्यमें, आत्मा और ब्रह्म ये दोनों पद शुद्धहैं । इसीसे इस वाक्यमें किसीभी प्रकारकी लक्ष-

णावृत्तिकेलिये स्थान नहीं है । क्योंकि यह उपासनाका प्रकरण है । और ये उपासनाएं मंद और मध्यम अधिकारीकेलिये बताई गई हैं । अस्तु ; पूर्वोक्त समग्र लेखका सारांश यह हुआ कि छांदोग्यके छठे अध्यायमें ब्रह्मके सत् रूपको, ऐतरेयमें ब्रह्मके चित् रूपको बृहदा० तैत्तरीय और मांडूक्यमें ब्रह्मके मत्त्यज्ञानानन्द या सच्चिदानन्दरूपको उक्त रीतिसे एकही अद्वैत सिद्ध किया गया है । प्रिय पाठको । मनुष्यको यह चिंता नहीं करनी चाहिये कि आदित्य-स्थानी ईश्वरने, आकाश आदि पांच स्थूलभूतोंका उत्पादन कैसे किया होगा और इनका वह संहारभी कैसे करेगा । हां यह चिन्ता अवश्य होनी चाहिये कि मेरे अन्दरमें स्थित, मेरेसे भिन्न अन्य कोई दूसरा मेरा प्रेरक तो नहीं है, जो कि मेरी सर्वथाही स्वतंत्रता नष्ट करके मुझे ईंट पत्थरके समान ही बनादे । परन्तु बृहदा० की नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा—” इत्यादि श्रुतिने यह चिन्ता दूर कर दी है । श्रुतिका अर्थ है कि आत्मासे या अपनेसे अभिन्न अन्य कोई द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता और अन्तर्यामी नहीं है । अर्थात् एक शरीरमें दो आत्मा नहीं हैं । ब्रह्मविद्याकी स्थिति—तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम् इस केन० की श्रुतिसे ब्रह्मविद्याके, तप दम कर्म वेद और वेदोंके सम्पूर्ण अंग, पाद या पैर हैं । सत्य तो स्थान है अर्थात् अन्य सब साधन हों, परंच यदि सत्य नहीं है तो उस व्यक्तिमें ब्रह्म-

विद्या नहीं टिकेगी। इसप्रकार उपरोक्त तत्त्वज्ञानका अधिकारी चतुष्टय साधन संपन्न व्यक्ति है। वे चार साधन ये हैं। १-विवेक—सद्ब्रह्म सत्य है और शब्दादि विषयात्मक संसार, अस्थायी है, ऐसे विभागका नाम विवेक है। २-वैराग्य—इस लोकके और ब्रह्मलोक तकके दृष्टानुश्रविक या देखे और सुने हुए विषयोंमें ग्लानि होना वैराग्य है। ३-शमादि षट्कसंपत्ति 'क' शम-भविष्यत्में, होनेवाले विषयभोगोंमें मनको न जाने देना (ख) दम—इन्द्रियोंको शास्त्रनिषिद्ध शब्दादि विषयोंसे रोकना। (ग) श्रद्धा—असांप्रदायी उपनिषद् वाक्योंमें तथा तदनुसारी गुरुके वचनोंमें विश्वास। (घ) समाधान—भोगे हुए विषयोंमें मनको फिर न जाने देना। (ङ) उपरति—स्वयं प्राप्त हुए विषयोंमें भी उपेक्षा बुद्धि करनी। (च) तितिक्षा—शीत उष्ण आदि द्रव्य या जोड़ेको बिना किसी प्रतिक्रिया किये सहन करना। ४-सुमुक्षा—मेरी संसारसे मुक्ति कैसे हो। ये चार साधन हैं। इनके द्वारा कोई भी मनुष्य, ज्ञानका अधिकारी अर्थात् ज्ञानके साधन श्रवण आदिका अधिकारी या पात्र हो जाता है। १—श्रवण—गुरुके मुखसे, "तत्त्वमसि" आदि जाँव और ब्रह्मके अभेद बोधक वाक्योंको सुनना। स्मरण रहे कि यहाँ ब्रह्म नाम निर्गुण सच्चिदानन्दका है, किन्तु आदित्यस्थानी ईश्वरका नहीं हैं। क्योंकि यहाँ उत्तम अधिकारीके लिये उपदेश है। २—मनन—एकांतमें, जीव और ब्रह्मके अभेदको सिद्ध करनेवाली

युक्तियोंके सहित सुने हुए वाक्योंका मनन करना । इनकेद्वारा अधिकारी ब्रह्मवित् होजाताहै । ३--निदिध्यासन या सविकल्प समाधि—बुद्धि वृत्तिका स्वस्वरूप सच्चिदानन्दब्रह्ममें, मैं सच्चिदानन्दब्रह्महूं इसप्रकार शान्त प्रवाहरूपसे एकाग्र बने रहना । इसकेद्वारा ब्रह्मवित् व्यक्ति, ब्रह्मनिष्ठ होजाताहै । ४--निर्विकल्प समाधि - मैं सच्चिदानन्दब्रह्म हूं, इस वृत्तिकाभी सर्वथा निरुद्ध होजाना, इसकेद्वारा ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति ब्रह्म होजाताहै । तात्पर्य यहहैकि विवेक आदि ज्ञानके साधनोंसे रहित अनधिकारी मनुष्यभी, श्रवण मननकेद्वारा ब्रह्मवित् होजाताहै—जैसा कि इतिहास पुराणोंसे पता चलताहैकि बड़े बड़े हिंसक राक्षसभी ब्रह्मज्ञान कथनकेद्वारा ब्रह्मवेत्ताथे । ऐसेही अबभी, विषयभोग लम्पट, अपने आश्रमधर्मसे सर्वथा विरुद्ध कार्य करनेवाला बहुतसा समाज वाचक ज्ञानी ब्रह्मवेत्ता बनावुआहै । परन्तु जो व्यक्ति, विवेक आदि ज्ञानके साधनोंद्वारा, श्रवण मनन निदिध्यासन और समाधिकरके ब्रह्मावत् होताहै वास्तवमें वही ब्रह्मवित् है, जोकि “मनुष्याणां सहस्रेषु” गीताके इस श्लोका-नुसार सहस्र मनुष्योंमें कोई एक ज्ञान प्राप्तिकेलिये यत्न करताहै और यत्नकरनेवाले सिद्ध पुरुषोंमेंभी कोई एक यथार्थ रूपसे आत्माको जानताहै । ऐसा ब्रह्मवित् दुर्लभ तथा पूज्यहै । कई करोड़ोंमें कोई एक होगा ।

परमधामकी प्राप्ति

प्रिय पाठकगण । इस स्वस्वरूपभूत सच्चिदानन्दरूपी परम-धामका मार्ग अति सरल तथा सुगम है । इस मार्गमें चलतेहुए समष्टिको अपने साथ बसीटनेकी आवश्यकता नहीं है । यह परमधाम, किसीकी संपिलित संपत्ति नहीं है । अतः इसका बटवारा करना नहीं है । इस परमधामको ईश्वररूपी अति गहन तथा महा भयंकर आरण्यमें भ्रमणकरके जानेकी आवश्यकता नहीं है । क्योंकि यह, वास्तवमें अपनाही स्वरूप है । इसको ऐसे जाना होगा । जबकि मनुष्य, बाहरके पदार्थोंमें, यह सुन्दर है और यह असुन्दर है ऐसे कहा करता है, तब इस वृत्तिका नाम मन है । यह वृत्ति वहिप्रज्ञा या स्थूलवृत्ति है । और यहां स्थूल-भोग है । क्योंकि इसके उस भोगको लोग देख रहे हैं । ऐसी जाग्रत अवस्थावाले स्वस्वरूप सच्चिदानन्द आत्माका नाम विश्व है और यह बाहरकी ओरसे आत्माका पहिला पाद है या पादके समान पाद है । क्योंकि निर-वयव आत्माके वास्तवमें हिस्से नहीं हो सकते । जब फिर मनुष्य जाग्रतके मनोराज्यमें या स्वप्नमें, अन्दरके पदार्थोंमें इष्ट या अनिष्ट वृत्ति करता है यह अन्तः प्रज्ञा या अन्दर बुद्धि वृत्ति कहलाती है, जोकि पहले मनके रूपमें अतिस्थूल थी । यहां सूक्ष्म भोग है, क्योंकि इसके उस भोगको बाहरके लोग नहीं देख सकते । इस स्वप्न अवस्थावाले आत्माका नाम तैजस-है, और यह बाहरकी ओरसे आत्माका या अपना दूसरा पाद है,

जोकि पहिले विश्वरूपको धारण कियेहुए था । यह पुण्य और पापका करनेवाला तथा उसके सुख और दुखरूपी फलोंका भोगताहै । “द्वा सुपर्णा” इसमंत्रमें बतायाहुआ यह एक पक्षी है । जबकि मनुष्य, मनोराज्य या स्वप्नको त्यागकर केवल अस्मि—हूँ इस सामान्यवृत्ति वाला होताहै, तब इस वृत्तिका नाम प्रज्ञानघन या विशेषज्ञानोंका एकीभावहै, जोकि यह वृत्ति पहिले बुद्धिके रूपमेंथी । इसवृत्तिका नाम कारणशरीरभीहै । क्योंकि आत्मा, इस वृत्तिकेद्वारा सूक्ष्मशरीरकी उत्पत्ति करताहै । इस वृत्तिका नाम आनन्दमयभीहै । क्योंकि आत्मा, इस वृत्तिके द्वारा आनन्द प्रधान होताहै । इस वृत्तिका नाम अविद्याभीहै । क्योंकि आत्मा, इस वृत्तिकेद्वारा अपने वास्तविक स्वरूपको जानता नहींहै । इस वृत्तिका नाम चेतोमुखभीहै । क्योंकि आत्मा सुषुप्तिके अन्तमें, इस वृत्तिद्वारा स्वप्न जाग्रतरूपी चेतनाको प्राप्त होताहै । इसलिये यह चेतनाका द्वारहै । आत्मा, इस वृत्तिकेद्वारा आनन्दभुक्है या अपने स्वरूपभूत आनन्दको भोगताहै । क्योंकि यह आनन्द, किसी पुण्यका फल न होकर अपनाहीहै । ऐसी सुषुप्तिकी आदि अवस्थावाले आत्माका नाम प्राज्ञहै । और यह बाहरकी ओरसे आत्माका या अपना तीसरा पादहै, जोकि इससे पहले तैजस-नामवाला जीवथा । यह प्राज्ञ, अपने कारण कार्यरूपी शरीरका नियन्ताहोनेसे ईश्वरहै । “द्वा सुपर्णा” मंत्रमें कहागया यही ईश्वररूपी दूसरा पक्षीहै, जोकि पुण्य और पापके

सुख और दुख रूपी फलोंका भोक्ता न होताहुआ केवल द्रष्टा है । जब फिर मनुष्य, इस में वृत्तिकोभी त्यागकर सुषुप्तिकी मध्य या गाढ़ सुषुप्तिमें सत् रूपहोजाताहै, तब उसी मनरूपी अविद्याके स्वस्वरूप सत्में लीनहोजानेसे न वहिप्रज्ञहै, न अन्तः प्रज्ञहै, न उभय प्रज्ञावालाहै, न प्रज्ञानघनहै, न चेतनहीहै, न जड़है, न दृष्टहै, इसीसे न व्यवहारका विषयहै, अग्राह्यहै, चिन्हसे रहित-है, चिन्तनका अविषयहै, एक अपना आपही प्रमाणहै या द्वैतरहितहै, प्रपंचका उपशमहै, शान्तहै या सर्वकल्पना शून्यहै, शिवहै या कल्याणरूपहै, अद्वैतहै या मनरूपी द्वैत या जीव और ईश्वररूपी द्वैत नहींहै, इसको ज्ञानीलोग, बाहरकी ओरसे चौथा या तुरीय अवस्थावाला आत्मा मानतेहैं, जोकि पहिले प्राज्ञरूपी ईश्वर था । वह आत्मा विज्ञेय या जाननके योग्यहै । ऐसी मन या बुद्धिकी रहित अवस्थामें आत्माको, भगवान् बुद्धका अनुयायी कोई एक शून्य मानताहै । न्याय और वैशेषिक ये दोनों शास्त्र, जड़ और द्रव्य मानतेहैं । सांख्य और योग ये दोनों शास्त्र, सत् और चेतन मानतेहैं । अद्वैतसिद्धान्तके अनुयायी वेदान्तीलोग, “ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा” आनन्दमयरूप पक्षीका ब्रह्म पुच्छ या आधारहै, इस तैत्तरीय श्रुतिसे आत्माको सत् चित् और आनन्दरूप मानतेहैं । यह अवस्था निर्विकल्प होनेसे अनिर्वाच्यहै । इसीसे सबलोग, अपनी २ वृत्तिसे आत्माकी भिन्न २ कल्पना करतेहैं । अब उपरोक्त समग्र लेखका वास्त-

विक तात्पर्य समझना चाहिए कि ऐसेतो यह जीवमात्रकीही स्वाभाविक अवस्था है एवं अपना स्वरूपहोनेसे यही परमधाम है, तोभी इससे दुखकी अत्यन्त निवृत्ति और परमसुखकी प्राप्ति-रूपी पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं होती। परन्तु पूर्वोक्तविवेक वैराग्य आदि साधनोंसे सम्पन्नहोकर जोभी मनुष्य, ब्रह्मविद्याकेद्वारा अपनेको मैं सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ ऐसे ब्रह्मरूप या सर्वात्मरूप अनुभव करलेता है। वह राग पूर्वक शब्दादि विषयोंको न भोग-ताहुआ, प्रारब्धकर्मका भोगसे क्षय होजानेपर तथा बाह्य संसारमें राग द्वेषके सर्वथाही छूट जानेपर, साथ साथ अपने स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीरमें रागका अत्यन्ताभावहोकर अन्तमें प्राणोंका वियोग होजानेपर वास्तविक स्वस्वरूपावस्थिति मुक्तिको प्राप्त करता है, या युक्तहोकि वह ब्रह्मनिष्ठ, एकपाद सगुणब्रह्मताको त्यागकर विदेहकैवल्यमुक्तिमें, त्रिपाद विशुद्ध निर्गुण सच्चिदानन्द शेषब्रह्मरूपसे स्थित होता है।

बन्ध मोक्षके नित्य और अनित्य पर विचार—

सगौड़पादीयाथर्ववेदीय मांडूक्योपनिषदके चतुर्थ प्रकरणमें श्लोक ३०

अनादेरन्तवत्त्वं च संसारस्य न सेत्स्यति ।

अनन्तता चादिमतो मोक्षस्य च न सिध्यति ॥

इसका अर्थ यह है कि संसारको अनादिमानकर फिर उसकी समाप्ति मानलेनी युक्तिसंगत नहीं है, और मोक्षको आदिवाली

अर्थात् उत्पत्तिवाली मानकर फिर उसे अनन्त अर्थात् नित्य मानना यहभी सिद्ध नहीं होताहै या उचित नहींहै । भावार्थ यह हुआकि आदिके साथ अन्तका और अनादिके साथ अनन्त-काहा सम्बन्ध या मेलहै । वैतथ्य प्रकरणमें श्लोक ३२—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।

न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥

न प्रलयहै और न उत्पत्तिहै तथा न बंधाहुआहै एवं न साधक-है और न मुमुक्षुहै तथा न मुक्तहै यही परमार्थहै । सारांश यह हैकि ब्रह्मात्मामें, इसप्रकारके अनेकोंही विवर्त होतेरहतेहैं इसका वास्तविक संबन्ध किसीके साथ नहींहै । योगवासिष्ठके तीसरे उत्पत्ति प्रकरणमें वसिष्ठजीने कहाहैकि हे रामजी । समुद्रमें तरंगोंके समान आत्मामें स्पन्दका होना अनिवार्यहै और इसको निवृत्त करना परम पुरुषार्थहै । प्रिय पाठको । ऐसे उल्लेखोंसे यही सिद्धहोताहैकि केवल सच्चिदानन्दब्रह्मही स्वरूपसे अनादि और अनन्तहै । उसमें इच्छारूपी अविद्याशक्ति तथा उसका कार्य उत्पत्ति प्रलय ईश्वर जीव बन्ध और मोक्ष आदि जितनीभी कल्पनाहै वह सब प्रवाहरूपसे अनादि और अनन्त है, किन्तु वह स्वरूपसे आदि और अन्तवालीहै । क्योंकि अत्यन्त असत् शशविषाणकी और बन्ध्यापुत्रकी उत्पत्ति तथा उसका विनाश नहीं देखागयाहै । परन्तु जिसकी प्रतीति होरहीहै वह वस्तु अत्यन्त असत् नहींहै । अब चाहेतो इस इच्छाशक्तिको सत्

और असत्से विलक्षण अनिर्वचनीय कहकर मिथ्या मान-
लीजिए अथवा इसको स्वप्नदृष्टान्तसे असत् बतादीजिये । परन्तु
यह इच्छाशक्ति और इसका कार्य, अत्यन्त असत् नहीं हो-
सकता । इसीसे यह कारण कार्यात्मक प्रपञ्च, प्रवाहरूपसे अनादि
और अनन्त है, किन्तु यह स्वरूपसे आद्यन्त या आनन्त्य है ।
जबकि यह इच्छाशक्ति, सुषुप्तिकी अन्तिम अवस्थामें या
निर्विकल्पसमाधिके अन्तमें अथवा महाप्रलयकी अन्तिम अवस्था-
केसमय ब्रह्मात्मामें प्रकट होती है, यही इसकी आदि उत्पत्ति या
आरम्भ है । जब फिर यह प्रकृति, सुषुप्तिकी मध्य अवस्थामें या
निर्विकल्पसमाधिमें या महाप्रलयकी मध्य अवस्थाकेसमय, अपने
अस्मि, ऐसे आच्छादकपनेको त्यागकर अपने अधिष्ठान
सच्चिदानन्दब्रह्ममें लीनहोजाती है—यही इस अविद्याशक्तिका
अन्त विनाश अभाव या ब्रह्मात्मासे निवृत्तहोजाना है । इसीसे
महाप्रलयकी अवस्थामें ‘सदेव’ इस श्रुतिने तथा “आत्मा वा”
इस श्रुतिने सच्चिदानन्दको स्वगत आदि तीन भेदोंसे
रहित शुद्ध ब्रह्म मानलिया है । पूर्वोक्त तीन अवस्थाओंके
अन्तमें अस्मि—हूँ ऐसी यह अविद्याशक्ति ब्रह्ममें उत्पन्न हुई, इससे
यह आदिमान् । और इन अवस्थाओंके समय यह, ब्रह्मात्मामें
लीन होगई, अतः यह स्वरूपसे सान्त होगई । परन्तु वास्तवमें
यह सान्त नहीं हुई । क्योंकि इन अवस्थाओंके अन्तमें यह फिर
ब्रह्मसे उत्पन्न होती है— इसीसे यह इच्छारूपी अविद्याशक्ति प्रवाह

रूपसे अनादि और अनन्त है । विश्वकी कोईभी वस्तु, अनादि और सान्त या अन्तके सहित नहीं है । घटकी उत्पत्ति होनेसे मृतिकामें जो घटका प्रागभाव था या न होनाथा उसका नाश होगया । परन्तु उसी घटके फूटकर चूर्ण होजानेसे मृतिकामें फिर प्रागभावकी उत्पत्ति होगई । वह प्रागभाव चाहे मृतिकाके किसी भी घट आदि कार्यका है । यह नियम नहीं कि वह घटकाही प्रागभाव हो । परन्तु वह उत्पन्न होगया, क्योंकि जिस वस्तुका नाश है उसका जन्म अवश्य है और जिसका जन्म है उसका नाश होना अटल है । इसप्रकार प्रागभावभी अनादि और सान्त नहीं है । इसलिये ब्रह्मसे विना संसारकी प्रतीतिवाली सभी वस्तुएं स्वरूपसे आदि और अन्तवाली हैं किन्तु वे प्रवाहरूपसे अनादि और अनन्त हैं । इसीप्रकार अब कैवल्यमोक्षको लीजिये । जिस समय कोई मुमुक्षु मनुष्य, अन्य सब वृत्तियोंके व्यवधान रहित-में सच्चिदानन्दब्रह्म हैं ऐसी धारणा करता है, तब यही वृत्ति ज्ञानाग्नि होकर संचितकर्मोंका दाह कर देती है, अर्थात् उन्हें दवा देती है । उनको दवा देना ही उनका दाह करना है । फलाभिसंधी रहित होनेसे क्रियमाणकर्मोंका उसे स्पर्श नहीं होता । तथा प्रारब्धकर्मकी भोग कर समाप्ति होजानेसे, मैं ब्रह्म हूँ यह वृत्ति स्वाश्रय सच्चिदानन्द ब्रह्ममें लीन हो जाती है । यही इच्छाशक्तिका अत्यन्ताभाव है या अत्यन्त निवृत्ति है । अत्यन्ताभाव शब्द यहां चिरकालवाची समझना चाहिये । जो महापुरुष, मायाशक्तिका तीनकालोंमेंही अभाव

बतारहेहैं—उनका वह कथन, मायाके अत्यन्ताभावके अभिप्रायसे नहींहै—वे तो ऐसे वाक्योंद्वारा जिज्ञासुकेलिये माया या इच्छाशक्ति की निवृत्तिका सरल सुगम साधन बतारहेहैं । क्योंकि विश्वभरमें जिस वस्तुकीभी प्रतीति अनुभवमें आरहीहै वह अत्यन्त असत् नहींहै—इसीसे उसका अत्यन्ताभावभी नहींहै । इच्छारूपी अविद्याशक्ति तथा इसके कार्य ईश्वर जीव बन्ध और मोक्ष आदिकी सर्व सम्मत प्रतीति होरहीहै । अतः इसका अत्यन्ताभाव कहना बड़ी भूल करनीहै । अस्मि यह अविद्याशक्तिहै और इसका यही रूप ब्रह्मात्माका आच्छादकहै । कोई व्यक्ति, अपने पुरुषार्थसे कुछ समय तक इसके आच्छादकरूपको आत्मासे अलग करसकताहै । परन्तु इसको इसके आश्रय ब्रह्मात्मासे दूर करनेकी न आजतक किसीकी सामर्थ्य हुई न है और न होवेगी । इसीलिये आचार्योंने पूर्वोक्त “अनादेः” इस श्लोकसे संसारको अनादि मानकर उसका अन्त माननेवालोंके तथा मोक्षको आदि वाली मानकर उसको अनन्त या नित्य मानने वालों के पक्षमें असंभव दोष बतायाहै । क्योंकि इससे ब्रह्मात्मामें, अपूर्वता आजानेसे यह परिणामी विकारी और अनित्य बनजाताहै । आचार्योंने अपने पक्षमें इस दोषके निवारणार्थ न “निरोधो” ऐसे श्लोकोंद्वारा आत्मामें बन्ध और मोक्षको परमार्थसे नहीं मानाहै अर्थात् स्वरूपसे नित्य नहीं मानाहै । कल्पित मानाहै या स्वरूपसे अनित्य मानाहै । परिशेषतः आचार्योंके ऐसे कथनका

वास्तविक अर्थ यही बनता है कि ब्रह्मात्मा, स्वरूपसे अनादि और अनन्त है । अस्मि रूपा अविद्याशाक्त तथा इसका कार्य बन्ध और मोक्ष आदि, स्वरूपसे आद्यन्त या अनित्य है । तथा यह प्रवाहरूपसे अनादि और अनन्त है । इससे ब्रह्मात्मा, नित्य निर्विकार तथा नित्यमुक्त बनारहता है और बन्ध मोक्षकी व्यवस्थाभी निर्दोष और निर्विवाद कल्पित सिद्ध होजाती है । इसलिये आचार्योंद्वारा “अनादेः” ऐसे श्लोकोंमें, संसारकी अनादि और अन्तता तथा मोक्षकी आदि और अनन्तता मानने वालोंके पक्षका खंडन करना युक्तही है । अस्तु । ऐसेतो पूर्वोक्त युक्तियोंद्वारा कैवल्यमुक्तिसे भी पुनरावृत्ति सिद्ध होती है । तोभी यह पक्ष, श्रुति और शास्त्रोंको मान्य नहीं है । इसे प्रौढवाद आदि के रूपमें समझना चाहिये । क्योंकि श्रुति और शास्त्र, कैवल्य मुक्तिसे कर्म तथा वासना रहित बुद्धिकी पुनरावृत्ति नहींमानते । इसीलिए श्रुति और शास्त्रोंके सम्मत, बन्ध अनित्य है और मोक्ष नित्य है, यही सिद्धान्त उपादेय है ।

अस्तु ! मनुष्यके लिये, सुषुप्ति अवस्थाकी अपेक्षा महाप्रलयकी अवस्था श्रेष्ठ है । महाप्रलयसे सर्विकल्पममाधि पवित्र है, सर्विकल्पसमाधिसे उसका फलरूप, ब्रह्मलोकमें प्राप्तहोनेवाली क्रम-मुक्ति शुद्ध है, और क्रममुक्तिसे निर्विकल्प समाधिको प्राप्त करना उत्तम है । तथा निर्विकल्प आत्मज्ञान समाधिसे उसका फलरूप स्वस्वरूपावस्थिति विदेहकैवल्यमुक्ति सर्वोत्तम है ।

क्योंकि श्रीमद् भगवद्गीता अ० १४ श्लोक २ में ऐसा है कि
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।

सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥

आत्मज्ञानद्वारा कैवल्यमोक्षको प्राप्त हुए महापुरुष, इस सृष्टिमें
जन्म आदि दुखोंसे और महाप्रलयको संनिधिमें अनावृष्टि और
अतिवृष्टि आदिके द्वारा होनेवाले महाकष्टोंसे बच जाते हैं । अतः
यह कैवल्यमोक्षमें सर्वोत्तमता है तथा वह निरपेक्ष भी है ।

सापेक्षजीवन्मुक्तियां

१-जिस समय, सच्चिदानन्द जीवात्माकी बुद्धिवृत्ति, अपने
अभिलषित पदार्थके दर्शन प्राप्ति और भोगद्वारा, सत्वगुणकी
वृद्धिसे एकाग्र या प्रसन्न होती है, तब यह जीवात्माकी जीवन्मुक्ति-
है या जीते हुए दुखनिवृत्ति और सुखकी प्राप्तिरूप मोक्ष है ।
२-या वह वृत्ति, सुषुप्तिकी आदि और अन्तिम अवस्थारूपी
आनन्दमयकोशमें एकाग्र होती है । ३- या वह वृत्ति, सविकल्प
समाधिमें स्थिर होती है । ४-या जिस समय, सभी जीवोंकी
बुद्धिवृत्तियां, महाप्रलयकी आदि और अन्तिम अवस्थामें एकाग्र
होती हैं तब वे समस्त जीवोंकी जीवन्मुक्तियां हैं । ५-या वह
बुद्धिवृत्ति, ब्रह्मलोकमें सत्यकाम सत्यसंकल्प और अणिमा आदि
रूप ब्राह्म ऐश्वर्यके भोगसे तृप्त होती है, तब वह सच्चिदानन्द
आत्माकी जीवन्मुक्ति है । इस प्रकार सच्चिदानन्द आत्माकी ये

पाँचों सापेक्ष जीवन्मुक्तियाँ हैं । अर्थात् एक दूसरीसे छोटी बड़ी जीवन्मुक्तियाँ हैं ।

सापेक्ष विदेह कैवल्य मुक्तियाँ

१-जिससमय, सच्चिदानन्द जीवात्माकी अविद्या या सामान्य इच्छा, सुषुप्तिकी मध्य अवस्था या गाढ सुषुप्तिमें, स्वाश्रय सच्चिदानन्दमें श्रमकी निवृत्यर्थ लीनहोजातीहै--तब यह सच्चिदानन्द, ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय रूप त्रिपुटीसे रहित निर्गुण शुद्ध अद्वैत ब्रह्म होजाताहै, यह आत्माकी विदेहकैवल्यमोक्षहै, अर्थात् त्रिपुटीके अभावसे दुःखनिवृत्ति पूर्वक सुखकी प्राप्ति होनी मोक्ष-है । २-या जब यह मनोवृत्ति, मरणके समय स्वाश्रय सच्चिदानन्दमें लीन होजातीहै, तब यह जीवात्मा त्रिपुटीके अभावसे अद्वैतब्रह्म होजाताहै यह विदेहकैवल्य मुक्तिहै । ३-या यह बुद्धिवृत्ति, गुरुमुखसे श्रवणकियेहुए वेदान्तवाक्योंके मनन और निदिध्यासनद्वारा, सूक्ष्महोकर निर्विकल्पसमाधिके समय स्वाश्रय सच्चिदानन्दमें लीनहोजातीहै तब यह जीवात्मा, त्रिपुटीके अभावसे अद्वैतब्रह्म होजाताहै, यह जीवात्माकी विदेह कैवल्य-मुक्तिहै । ४--अथवा जब ये कारणशरीर आनन्दमयकोश या सामान्य इच्छारूपी वृत्तियाँ, महाप्रलयकी मध्य अवस्थाके समय स्वाश्रय सच्चिदानन्दमें लीनहोजातीहैं, तब यह समस्त प्राणधारी त्रिपुटीके अभावसे स्वगत आदि भेदोंसे शून्य चतुष्पाद विशुद्ध निरपेक्ष निर्गुण ब्रह्म होजाताहै, तब यह समस्त जीवों-

की विदेह कैवल्य मुक्ति है । सच्चिदानन्द जीवात्मकी ये चारों सापेक्ष विदेहकैवल्यमुक्तियाँ हैं । सापेक्ष नाम, एक दूसरी से छोटी बड़ी का है । इसमें प्रमाण--ब्रह्मसूत्र अ० ३ पाद २ सूत्र ७ तदभावो नाडीषु तच्छू तेरात्मनि च । शांकरभाष्य । पंचदशीके योगानन्द प्रकरणमें श्लोक ४४।४५।५६।१६। छांदोग्यकी श्रुति--“सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्” इन प्रमाणोंको पहिले प्रकरणमें देखा है । और छांदोग्यके छठे अध्यायकोभी देखिये । सांख्य दर्शन अ० ५ सूत्र ११६ समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता । जीवात्मा, समाधिमें सुषुप्तिमें और मोक्षमें ब्रह्मरूप होजाता है । ब्रह्मसूत्र अ० ३ पाद २ सूत्र १० मुग्धे अर्धसंपत्ति परिशेषात् । शांकरभाष्यका संक्षिप्त अर्थ--जीवकी चारही अवस्थाएँ हैं । जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति और मरण । इसलिये इन्हीं चारों अवस्थाओंके बीचमें, मूर्छा अवस्थाको गिनलेना चाहिये । ऐसा पूर्वपक्षहोनेपर व्यासजी अब इसका उत्तर कहते हैं । परिशेषात् अर्ध संपत्ति-मुग्धतेत्यवगच्छामः । निः संज्ञत्वात् संपन्न इतरस्माद्वैलक्षण्यादसंपन्न इति । अन्तमें अर्ध संपत्ति मुग्धता है हम ऐसा मानते हैं । चेतना रहितहोनेसे संपन्न है और सुषुप्तिसे विलक्षण है अतः वह असंपन्न है । अर्थात् जीवात्मा, मूर्छा अवस्थामें आधा ब्रह्म होता है, पूर्णब्रह्म नहीं होता । प्रिय पाठको । मैंने इस सूत्रके आधार-परही मूर्छाको सापेक्ष विदेहकैवल्यके अन्तर्गत ग्रहण नहीं किया है ।

निरपेक्ष जीवन्मुक्ति

जिससमय, जीवात्मा, सुषुप्तिकी मध्य अवस्था और निर्विकल्प-समाधि, अपनी इन दोनों अद्वैतब्रह्मरूप सापेक्ष विदेहकैवल्य अवस्थाओंको जाग्रत अवस्थामें अनुभवकर अपनेको अज-अविनाशी नित्यानन्दरूप मानताहुआ कारणशरीर या आनन्द-मयकोशसे लेकर समस्त बाह्यपदार्थोंकी लाभ और हानिमें अपनी लाभ हानि नहीं मानता, अर्थात् हर्ष शोक आदि द्वन्द्वोंसे ऊपर उठ जाताहै-यही अवस्था जीवात्माकी निरपेक्ष जीवन्मुक्ति अवस्था-है। इसप्रकार अद्वैत ब्रह्मरूप सापेक्ष विदेहकैवल्य मुक्तिके पीछे जीवात्माकी निरपेक्ष जीवन्मुक्ति होतीहै निरपेक्ष नाम सबसे बड़ी, जीवन नाम इसी शरीरमें, मुक्तिका अर्थहै दुखकी निवृत्ति पूर्वक सुखकी प्राप्ति होनी। जीवन्मुक्ति, विदेह कैवल्यके समीप होनेसे मुक्ति कहीजातीहै, वास्तवमें यह मुक्ति नहींहै। किंतु इसकी फलस्वरूप सच्चिदानन्दमें अस्मि वृत्तिकी लीनावस्थाही वास्तवमें मोक्षहै।

निरपेक्ष विदेहकैवल्यमुक्तिका अधिकारी

जिससमय, ब्रह्मनिष्ठकी मैं सच्चिदानन्दब्रह्महुं ऐसी विद्यावृत्ति, स्वस्वरूप सच्चिदानन्दब्रह्ममें निगमन रहतीहुई उसकी इच्छाके विरुद्ध अन्य किसीभी संकल्पको तथा मनोराज्यको नहीं करती, उसके सर्वथाही स्वाधीन होजातीहै। अर्थात् ब्रह्मसूत्र १।४।१।१३।

“तदधिगम उत्तरपूर्वाधयोरश्लेशविनाशौ । सूत्र १४
इतरस्याप्येवमश्लेशः पाते तु । इन सूत्रोंके प्रमाणोंसे, ब्रह्म-

ज्ञानहोनेपर पूर्व संचित पाप तथा पुण्यकर्मोंका नाश होजाताहै और अबके कियेजानेवाले पुण्यपापकर्मोंका ज्ञानवानको स्वार्थ न होनेसे संबन्ध नहीं होता, तब वह निरपेक्ष विदेहकैवल्यसुक्ति-का अधिकारी या पात्र बनजाताहै ।

अब यहाँ प्रश्न यह होताहैकि ब्रह्मा विष्णु और शिवजी, जोकि उच्चकोटिके देवता मानेगयेहैं—इनके जो वर्तमानशरीरहैं ये इन्हें आत्मज्ञान होजानेके अनन्तर मिलेहैं अथवा आत्मज्ञान-होनेसे पहिले मिलेहैं । १ यदि ये शरीर इन्हें ज्ञानवान् होनेके अनन्तर मिलेहैं तबतो आत्मज्ञानसे विदेहकैवल्यकी प्राप्ति कहने-वाली श्रुतियां तथा ब्रह्मसूत्र १।४।१।१६। “भोगेन” इस सूत्रके सहित पूर्वोक्त दोनों सूत्र व्यर्थ होजातेहैं । २—यदि इनको ये शरीर आत्मज्ञानसे पहिले मिलेहैं और इनको त्रिपुटीकी अभावरूपा कैवल्यसुक्तिकी कभी प्राप्तिही नहीं होतीहै तबभी इन तीनोंसूत्रोंको व्यर्थता आगईहै । इस प्रश्नका उचार यहहै कि इनको ये शरीर आत्मज्ञान होनेसे पहिले मिलेहैं । क्योंकि इन्होंने इन पदोंकी प्राप्तिकेलिये ही उपासना की थी । इनको ये ही पद, आत्माज्ञान होनोंमें प्रति-बन्धकथे । अब ज्ञानवान् होनेपरभी ब्रह्मसूत्र १।३।३२ यावद-

धिकारमवस्थितिराधिकारकाणाम् ॥ इस सूत्रके अनुसार, जितनाभी अधिकारी वर्ग है, किसीके वर या अभिशापके कारण, अनेक शरीरोंको धारणकरके भी अपने अधिकार तक बनारहेगा। अधिकार समाप्त होनेसे सबके सब त्रिपुटीके अभाव से स्वस्वरूपावस्थानरूप विदेहकैवल्यको प्राप्त होजावेंगे। इसलिए श्रुतियों और सूत्रोंको व्यर्थता नहीं है।

निरपेक्ष विदेहकैवल्यमुक्ति

छांदोग्य अ० ६ खंड १४ श्रुति २ “तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्य इति” उस ब्रह्मात्मवित्को (निरपेक्ष) विदेहकैवल्यकी प्राप्तिमें तबतक चिर है जबतक वह प्रारब्धकर्मोंको भोगद्वारा समाप्त नहीं करदेता। प्रारब्धकर्म भोगकी समाप्तिके अनन्तर अद्वैतब्रह्मरूप कैवल्यको प्राप्त होता है। ब्रह्मसूत्र अ० ४ पाद २ सूत्र १६ भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते ॥ जिन पुण्यपापरूपी कर्मोंने अपना सुखदुखरूपी फलदेना आरम्भ किया है उनको भोगद्वारा समाप्तकरके ‘ब्रह्मात्मवित्’ विदेहकैवल्यको प्राप्त होता है। बृहदा० अ० ४ ब्राह्मण ४ में श्रुति-“अथाकामयमानो यो अकामो निष्काम आपत्काम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति”। और जो संसारी कामना न करताहुआ कामना रहित निष्काम प्राप्तकाम तथा आत्माकीही कामनावाला है

उसके प्राण कहीं गमन नहीं करते (अन्य श्रुति है “अत्रैव समवनीयन्ते” यहां ही लीन हो जाते हैं) वह ब्रह्म होता हुआ ही ब्रह्मको प्राप्त होता है । बृहदा० अ० ४ ब्राह्मण ३ में श्रुति— “सलिल एको द्रष्टा अद्वैतो भवति” वह ज्ञानी जन, जलके समान शुद्ध तथा द्वैतसे रहित होता है । इत्यादि श्रुतियों सूत्र तथा “स्वाप्ययसंपत्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ।” ब्रह्म.

४।४।१६। इस सुत्रके अनुसार, सुषुप्ति और मोक्षमें विशेष ज्ञानका अभाव होता है । प्रश्नोपनिषद् प्रश्न ६ में सुकेशाद्वारा पिप्पलादमुनिसे षोडशकलायुक्त पुरुष पूछा जाने पर पिप्पलादजीने उससे कहा कि इस शरीरमें ही षोडश या सोलह कलावाला पुरुष है । इसकी प्राण और श्रद्धा आदि षोडश कलाएं जो कि इसने रची हैं । जैसे बहती हुई नदियां, समुद्र ही है उद्गमस्थान जिनका, वे नदियां समुद्रमें मिलकर अस्त हो जाती हैं—इनके गंगा आदि नाम और शुक्ल आदि रूप नष्ट हो जाते हैं तब वह समुद्र है ऐसा कहा जाता है—इसी प्रकार अहंवृत्ति द्वारा लक्षित आत्मा पुरुषकी ये प्राण आदि षोडश कलाएं पुरुष ही है आश्रय जिनका वे अन्तमें ब्रह्मनिष्ठ पुरुषको प्राप्त होकर अस्त हो जाती हैं—इनके नाम और रूप मिट जाते हैं, तब यह पुरुष है ऐसा कहा जाता है । “स एषोऽकलो अमृतो भवति” वह यह पुरुष कलारहित या निरवयव अमर हो जाता है—इस श्रुतिके अनुसार, प्रारब्ध कर्मोंकी भोगद्वारा समाप्ति हो जानेसे, प्राणोंका किसी लोक

विशेषमें गमन न करके यहांही लीन होजानेपर, अहंब्रह्मास्मि वृत्तिका स्वाश्रय सच्चिदानन्दब्रह्ममें वासना रहित विलीन होजाना ही सच्चिदानन्द आत्माकी स्वस्वरूपसे स्थितिरूप निरपेक्ष विदेह कैवल्यमुक्तिहै। निरपेक्ष नाम सबसे बड़ी, विदेहका अर्थहै— ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेयरूप त्रिपुटिका अभाव, कैवल्यका अर्थहै— आत्माका अकेले होना या निखर जाना, मुक्ति नाम, दुःखकी अत्यन्त निवृत्तिपूर्वक सुखरूप होजानेकाहै। क्योंकि “भूमैव सुखम्” भूमा नाम ब्रह्म या व्यापककाहै वही सुखरूपहै, इस छांदोग्य० अ० ७ की श्रुतिके प्रमाणसे अद्वैत ब्रह्मरूप मोक्ष सुखरूपहै।

इसके विषयमें कठ उप० अ० १ वल्ली २ श्रुति १४ में कहाहै—
 “क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो-
 वदन्ति—ज्ञानीलोग, उस परमपदरूपी विदेहकैवल्य मुक्तिको
 क्षुरेकी तीक्ष्ण धाराके समान दुःखसे प्राप्तकरनेके योग्य दुर्गम
 बता रहे हैं। इसलिये यह निरपेक्ष विदेहकैवल्य मुक्ति, अत्यन्त
 दुर्लभ है। इसप्रकार, ब्रह्मनिष्ठ महापुरुषकी, एकपाद सगुणब्रह्मता-
 को त्यागकर, स्वस्वरूप त्रिपाद विशुद्ध निर्गुणसच्चिदानन्द
 ज्ञेयब्रह्म रूपसे स्थिति होनी, निरपेक्ष विदेह कैवल्य मोक्षहै।

इसप्रकार वैदिक ब्रह्म विचारमें ज्ञेयब्रह्म नामका आठवां
 प्रकरण समाप्त हुआ।

क्षितीन्दु व्योम नेत्रेऽब्दे वैक्रमे च प्लवङ्गमे ।

माघमासे पौर्णिमायां ग्रन्थमेतत्समाप्तमोम् ॥

इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य दण्डी स्वामी रामतीर्थे
विरचितं वैदिक ब्रह्म विचार पुस्तकं सम्पूर्णम् ॥

कार्तिक वि० सं० २०१२



मुद्रक :—दी सेंट्रल इलेक्ट्रिक प्रेस लुधियाना ।

प्रकाशक :—श्री मुरारिलाल जी सोनी मुहल्ला सोनियां लुधियाना ।

सूचना—

शास्त्रोक्त धर्मका अपूर्व ग्रन्थ शास्त्रीय धर्म दिवाकर

लेखक—दण्डी संन्यासी रामतीर्थजी

यह—पुस्तक, विद्वान्से सर्वसाधारणतककेलिए परमोपयोगि ज्ञानवर्धक तथा मार्ग प्रदर्शक होतेहुए भी उपदेशकोंकेलिए विशेष लाभदायकहै। जो धर्म सम्बन्धी समस्याएं सैकड़ों ग्रन्थोंके अवलोकन करनेसेभी समझमें नहीं आसकतीं वे इस छोटेसे ग्रन्थद्वारा सुगम सरल तथा स्पष्ट प्रतीत होतींहैं। इसमें, निम्न लिखित विषयोंका विस्तारसे स्पष्टीकरण कियागयाहै। धर्मका लक्षण, सामान्य तथा विशेष धर्माधर्मकी मीमांसा तथा उसका विस्तार प्रदर्शित करतेहुए श्रुतिधर्मसे भिन्न स्मृतिधर्म तथा स्मृतिधर्मसे विलक्षण पौराणिक सदाचारका वर्णनकरके भारतमें वर्तमान सदाचारका निरूपण कियागयाहै। इत्यादि अन्य विषयों पर भी प्रकाश डालागयाहै।

मूल्य १।) रुपया

पता—

यूनीवर्सिटी पब्लिसर्ज रेलवे रोड जालन्धर



